साहित्य के नये संदर्भ

डा० उर्मिला जैन
महेन्द्र राजा जैन

साहित्य के नये संदर्भ

लेखकों की अन्य पुस्तकें

महेन्द्र राजा जैन

- वाराणसी से लंदन
- अंग्रेज अपने मुल्क में

डॉ० उर्मिला जैन

- आधुनिक हिन्दी काव्य में क्रान्ति की विचारधाराएं

प्रकाशनाधीन

महेन्द्र राजा जैन एवं डॉ० उर्मिला जैन

- हिन्दी भाषा एवं साहित्य : संदर्भ निदेशिका
- A Reference guide to Hindi language and literature

डॉ० उर्मिला जैन

महेन्द्र राजा जैन

साहित्य के नये संदर्भ

अछूते विषयों पर कुछ विचार

संदर्भ

नागवासुकि, इलाहाबाद—२११००६

साहित्य के नये संदर्भ

प्रथम संस्करण १९८९

संदर्भ
१८५, नागवासुकि
इलाहाबाद–२११००६
द्वारा प्रकाशित

मूल्य रु० ४८.००

वितरक
★अनेकान्त साहित्य शोध संस्थान
इटारसी (मध्य प्रदेश)

★जैन बुक डिपो
धर्मन चौक
आरा (बिहार)

मुद्रक
अनिल प्रिन्टर्स
१९-बी/१३, एल्गिन रोड
इलाहाबाद—२११००३

आवरण पृष्ठ
पुष्पी आफसेट
११९-बी, बाई का बाग
इलाहाबाद—२११००३

(स्व०) डॉ० यशस्वती श्रमण

की

स्मृति को

पूर्वरंग

इस पुस्तक में संग्रहीत लेखों में से **हिन्दी तो सब की बहन** है के अतिरिक्त अन्य सभी लेखों को लिखने का विचार भारत से बाहर आया था और ये सभी लेख मूलतः भारत से बाहर इंग्लैंड, आयर्लैंड, तनजानिया और जाम्बिया में लिखे गये थे. १९८२ में हमारे स्थायी रूप से भारत लौटने के बाद इन लेखों को जब कुछ परिचितों ने पढ़ा तो उनका आग्रह हुआ कि इन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित किया जाना चाहिए, पर हमने इस ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया. १९८५ के प्रारम्भ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग की रीडर डा० शशि अग्रवाल ने एक-दो लेख पढ़े तो उनका प्रबल आग्रह हुआ कि इन सभी लेखों का संग्रह अवश्य प्रकाशित किया जाना चाहिए. शशि जी के आग्रह को हम नहीं टाल सके और यह वस्तुतः शशि जी का 'उलाहना' ही कहा जाना चाहिए कि उन्होंने इस संग्रह को जल्दी से जल्दी प्रकाशित करने के लिए प्रोत्साहित किया और जब तक पांडुलिपि प्रेस में नहीं चली गई तब तक बराबर उसकी प्रगति के विषय में पूछती रहीं. अतः यह कहना गलत नहीं होगा कि इन लेखों को पुस्तक रूप में प्रकाशित कराने का श्रेय मुख्यतः शशि जी को है.

संग्रह के सभी लेख ऐसे विषयों पर हैं जिन पर, जहां तक हमें पता है, अभी तक हिन्दी में कहीं भी कुछ भी नहीं लिखा गया है, और यदि लिखा भी गया हो तो शायद कहीं प्रकाशित नहीं हुआ है. वैसे भी

इस प्रकार के लेखों को प्रकाशित करने के लिए न तो कोई पत्रिका ही जल्दी तैयार होती है और न कोई प्रकाशक. **हिन्दी संदर्भ साहित्य : कुछ अपेक्षाएं** सर्वप्रथम तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन के अवसर पर प्रकाशित होने वाली स्मारिका के लिए भेजा गया था पर वहां से कई स्मृति-पत्रों के वाद भी प्राप्ति सूचना तक नहीं मिली. बाद में यह लेख दिल्ली से प्रकाशित होने वाली एक त्रैमासिक पत्रिका को भेजा गया, पर वहां से भी कोई उत्तर नहीं मिला. इसके वाद कई और मासिक, त्रैमासिक पत्रिकाओं ने भी इसी प्रकार चुप्पी साध ली जो स्वाभाविक ही थी. अन्ततः वह इलाहाबाद से निकलने वाले एक हिन्दी दैनिक में प्रकाशित हुआ पर उसे संपादकीय प्रक्रिया में इतना संक्षिप्त कर दिया गया था कि उसकी कुछ महत्वपूर्ण बातें उसमें नहीं आ सकीं. फिर भी जिन लोगों ने उसे पढ़ा, वे उससे बहुत प्रभावित जान पड़े. इस लेख के प्रकाशन के वाद कुछ ऐसे साहित्य-प्रेमियों, साहित्यकारों से भी हमारा परिचय हुआ जिनसे हम पहले कभी नहीं मिले थे या केवल जिनके नाम से परिचित थे. उन्होंने भी लेख के अधूरा होने की शिकायत की. अतः यह लेख फिर से लिखा गया और पांडुलिपि प्रेस में जाने के बाद भी उसमें संशोधन-परिवर्द्धन किया जाता रहा.

हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की विषय सूची की बात सबसे पहले लगभग २० वर्ष पूर्व हमारे मन में आई थी जब अपने शोध कार्य के सिलसिले में हमें बराबर पत्र-पत्रिकाओं की पुरानी फाइलें देखनी पड़ती थीं और ऐच्छिक लेख या सामग्री की सूचना प्राप्त करने के लिए कभी-कभी कई-कई वार संबंधित पत्रिकाओं की फाइलें छाननी पड़ती थीं, फिर भी ऐच्छिक सूचना नहीं मिल पाती थी. बाद में इसी सिलसिले में हमें जब विदेशों के पुस्तकालयों में कार्य करने और वहां के संग्रह देखने का अवसर मिला तो हिन्दी की इस बहुत बड़ी कमी की ओर हमारा ध्यान गया.

हिन्दी प्रकाशन : सम्पादकीय दायित्व की प्रेरणा एवं सामग्री हमें मुख्यतः लुसाका (जाम्बिया) स्थित भारतीय दूतावास के पुस्तकालय में संग्रहीत पुस्तकों से मि ी. इस छोटे से पुस्तकालय में हिन्दी पुस्तकों का इतना अच्छा संग्रह देखकर एक ओर जहां हमें प्रसन्नता हुई, उन पुस्तकों को

देख-पढ़कर उससे अधिक निराशा हुई. यह लेख भी पांडुलिपि प्रेस में जाने के बाद संशोधित-परिवर्द्धित किया जाता रहा. यह लेख लिखने का हमारा उद्देश्य मात्र यह बतलाना रहा है कि पिछले ४०-५० वर्षों में हिन्दी पुस्तकों में विषय-वस्तु के संपादन की दृष्टि से कोई प्रगति नहीं हुई है और थोड़े से परिश्रम एवं नाम-मात्र के अतिरिक्त व्यय से प्रकाशक किस प्रकार अपने प्रकाशनों को अधिक उपयोगी बना सकते हैं, यह **हिन्दी प्रकाशन : प्रकाशकीय दायित्व** में बतलाया गया है. इन दोनों लेखों को पढ़ने के बाद कुछ लोगों ने सुझाव दिया कि **हिन्दी प्रकाशन : लेखकीय दायित्व** शीर्षक एक लेख भी इस संग्रह में होना चाहिए था, पर इन दोनों लेखों में लेखकीय दायित्व सम्बन्धी इतनी अधिक बातें अपरोक्ष रूप में कही जा चुकी हैं कि हमने इस विषय पर और कुछ लिखना उचित नहीं समझा.

इलाहाबाद में कई बड़े पुस्तकालय हैं जिनमें इलाहाबाद विश्वविद्यालय और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पुस्तकालयों के अतिरिक्त केन्द्रीय राज्य पुस्तकालय एवं राजकीय सार्वजनिक पुस्तकालय प्रमुख हैं. इन चारों ही पुस्तकालयों में पुस्तकों का विशाल संग्रह है पर उचित सुविधाओं के अभाव में पाठक उनका सही उपयोग करने से वंचित रह जाते हैं. भारत के अधिकांश पुस्तकालयों में पाठकों के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाता है तथा पुस्तकालयों में पुस्तकें होने पर भी उनका उपयोग न होने देने के लिए किस प्रकार तरह-तरह के अवरोधक नियम बनाये जाते हैं, यह प्रायः सभी जानते हैं.

यह हमारा सौभाग्य ही कहा जाना चाहिए कि **हिन्दी संदर्भ साहित्य : कुछ अपेक्षाएं** तथा **हिन्दी प्रकाशन : सम्पादकीय दायित्व** इन दोनों लेखों के संशोधन-परिवर्द्धन एवं इनमें उल्लिखित प्रकाशनों के संबंध में प्रकाशकीय सूचनाएं प्राप्त करने में हमें राजकीय सार्वजनिक पुस्तकालय के श्री अहमद एवं हरिश्चन्द्र से बहुत सहायता मिली है. इन दोनों के सहयोग के बिना इन लेखों में कितनी त्रुटियां रह जातीं तथा उल्लिखित प्रकाशनों के संबंध में कितनी गलत सूचनाएं चली जातीं, इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है. पुस्तकालय के एक सामान्य सदस्य के रूप में हमें पुस्तकालय में इन दोनों से जो सहायता-

सुविधाएं मिलीं, उसके लिए हम इनके बहुत आभारी हैं. पुस्तकालय के ये दोनों ही कर्मचारी सही अर्थों में पुस्तकालयाध्यक्ष हैं जो यह मानकर पाठकों की सहायता करने को तत्पर रहते हैं कि पुस्तकालय में पुस्तकें केवल संग्रह के लिए नहीं वरन उपयोग के लिए रखी जाती हैं अतः प्रत्येक पाठक को उनके उपयोग की सुविधा मिलनी चाहिए.

हिन्दी में शोध कार्य संबंधी एक दर्जन से अधिक पुस्तकें अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं पर **हिन्दी शोध कार्य : उपलब्ध सामग्री** में हमने जो सूचनाएं दी हैं, वे अब तक किसी पुस्तक में देखने में नहीं आई हैं. यह लेख पहले **संदर्भ भारती** (कलकत्ता) में प्रकाशित हुआ था. उसके बाद हमें कई शोध-छात्रों एवं विश्वविद्यालयों-महाविद्यालयों के प्राध्यापकों से इस लेख के संबंध में बड़े ही उत्साहवर्धक पत्र मिले. कुछ ने सुझाव दिया कि हम शोध छात्रों के लिए उपयोगी इसी प्रकार के कुछ और लेख लिखें. इन प्रतिक्रियाओं से हमें यह लेख इस पुस्तक में संग्रहीत करने की प्रेरणा मिली.

१९८३ के प्रारम्भ में हिन्दी की विख्यात कवियत्री श्रीमती महादेवी वर्मा को भारत भारती पुरस्कार मिला था. उसके शीघ्र बाद ही उन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार भी मिला. भारत-भारती पुरस्कार उन्हें प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के हाथों मिला था. श्रीमती गांधी के हाथों महादेवी जी द्वारा पुरस्कार ग्रहण किये जाने की आलोचना कई बुद्धिजीवियों ने, विशेषकर इलाहाबाद के प्रबुद्ध लेखक वर्ग ने, एक सम्मिलित वक्तव्य देकर की थी. दोनों पुरस्कारों की धनराशि से साहित्यकारों के लिए एक न्यास की स्थापना हुई है, ऐसी घोषणा महादेवी जी द्वारा की गई थी. इन्हीं सन्दर्भों में ज्ञानपीठ पुरस्कार की घोषणा के तुरन्त बाद डॉ० उर्मिला जैन द्वारा महादेवी जी से लिये गये साक्षात्कार **हिन्दी तो सबकी बड़ी बहन है** से कुछ ऐसी सूचनाएं मिलती हैं जो अब तक अन्यत्र संभवतः अनुपलब्ध हैं. साक्षात्कार में एक जगह मौलाना आजाद के हिन्दी विरोधी वक्तव्य की चर्चा है. वह तथा प्रयाग के साहित्यकारों द्वारा दिया गया भारत-भारती पुरस्कार सम्बन्धी वक्तव्य भी हम इस साक्षात्कार के साथ परिशिष्ट के रूप में देना चाहते थे पर बहुत प्रयत्न करने पर भी इन वक्तव्यों की प्रतियां

नहीं मिल सकी. कई लेखकों, साहित्यकारों से इस सम्बन्ध में बातचीत करने पर भी कोई लाभ नहीं हुआ. स्वयं महादेवी जी से भी इस संबंध में कोई और सूचना नहीं मिल सकी.*

ऐसी स्थिति में अनायास ही **हिन्दी संदर्भ पुस्तकालय** की आवश्यकता की ओर हमारा ध्यान गया. वैसे इस लेख की प्रेरणा हमें लन्दन के **लायब्रेरी एसोसियेशन** तथा **इंग्लिश एसोसियेशन** के पुस्तकालयों में प्राप्त सामग्री देखकर तथा जाम्बिया विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के संदर्भ कक्ष में काम करने से मिली.

अफ्रीकी देशों के संबंध में हम भारतीयों की सामान्यतः जो धारणा है, वह कितनी गलत है, यह वहां जाने पर ही पता चलता है. कई क्षेत्रों में तो अफ्रीकी देश हमसे बहुत आगे हैं और ऐसे कुछ क्षेत्रों में वहां के पुस्तकालयों एवं विश्वविद्यालयों को भी रखा जा सकता है. वहां इनकी संख्या गिनी-चुनी है, पर जो भी जितने भी पुस्तकालय हैं, प्रायः सभी में पुस्तकों का इतना अच्छा संग्रह है और उनके उपयोग की इतनी अच्छी सुविधाएं हैं कि वहां बार-बार जाने और बैठे रहने की इच्छा होती है. आज हमारे यहां विश्वविद्यालयों में भ्रष्टाचार एवं राजनीति जिस प्रकार व्याप्त हो चुकी है, वैसी कोई बात हमें विदेशों के विश्वविद्यालयों में देखने को नहीं मिली और अफ्रीका के तथाकथित 'पिछड़े' देशों के विश्वविद्यालयों-पुस्तकालयों में जो सुविधाएं-सेवाएं प्राप्त हैं, उनके संबंध में भारत में तो अभी शायद सोचा भी नहीं जा सकता. फिर भी **हिन्दी संदर्भ पुस्तकालय** में हमने हिन्दी-प्रेमियों के लिए एक दिशा-निर्देश दिया है और हमें आशा है कि हिन्दी की कोई-न-कोई संस्था यह संकेत प्राप्त कर इस दिशा में अवश्य ही कुछ-न-कुछ कार्य करेगी.

एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका पहले हमने संक्षेप में हिन्दी की कई पत्रिकाओं को भेजा था पर किसी को भी वह पसन्द नहीं आया. एक पत्रिका के सम्पादक ने मिलने पर मात्र यह कहा कि **ब्रिटानिका** यहां

*इस संबंध में हम अभी भी प्रयत्नशील हैं और आशा करते हैं कि यदि इस पुस्तक के पुनर्मुद्रण का अवसर आया तो नये संस्करण में ये वक्तव्य दिये जा सकेंगे.

है ही कितने लोगों के पास और जिनके पास है भी, वे अब भला यह लेख क्यों पढ़ना चाहेंगे? इसके उत्तर में बहुत कुछ कहा जा सकता था, पर हम चुप रहे, वस्तुतः इस प्रकार का सोचना ही कई क्षेत्रों में हमारे अज्ञान का कारण है. इस लेख के छप चुकने के बाद हमें **ब्रिटानिका** के नये संस्करण की सूचना मिली जो ३३ खंडों में अभी कुछ समय पूर्व प्रकाशित हुआ है. यह नया संस्करण देखने का अवसर हमें अभी नहीं मिल सका है पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित विज्ञापन देखकर पता चला है कि नये संस्करण में **इण्डेक्स** (दो खंड) शामिल कर दी गई है. हमने अपने लेख में पिछले संस्करण में इन्डेक्स की कमी की ओर भी ध्यान दिलाया है.

मूर्त काव्य, संसार की सबसे छोटी कविता और **ब्रिटेन की साहित्यिक पत्रिकाएं** भी कुछ ऐसे लेख हैं जो हिन्दी-प्रेमियों को नये विषयों की जानकारी देते हैं. **मूर्त काव्य लेख** पढ़कर कुछ पाठक इसे काव्य शब्द का दुरुपयोग कह सकते हैं, पर काव्य में इस प्रकार के प्रयोग कोई नई बात नहीं है. अंग्रेजी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में भी काव्य के नाम पर तरह-तरह के प्रयोग हुए हैं और ये प्रयोग किन्हीं अज्ञात या नये कवियों द्वारा नहीं वरन जाने-माने प्रतिष्ठित कवियों द्वारा किये गये हैं.

मेक्सिको के अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि प्राप्त स्पेनी कवि आक्टावियो पाज भी इस प्रकार के प्रयोगों की दिशा में अग्रणी हैं. पिछले कुछ वर्षों में उन्होंने काव्य में तरह-तरह के प्रयोग किये हैं. इस प्रकार के प्रयोगों में उनकी प्रथम कविता **ब्लान्को** थी जो फोल्डिंग स्क्रोल पर छपी थी. इसकी विशेषता यह है कि कविता अलग-अलग स्थान पर खोलने से अलग-अलग ढंग से पढ़ी जा सकती है. उनकी इस प्रकार की अन्य कविताओं में **टू पोइमास** मूर्तकाव्य के समान है. पाज ने इसी प्रकार के और भी प्रयोग किये हैं जिनमें **रेंगा** संभवतः इसलिये उल्लेखनीय है कि यह कविता पाज और अन्य कवियों द्वारा स्पेनी, फ्रांसीसी, अंग्रेजी और इतालवी में लिखी गई थी. पिछले दिनों पाज जब ज्ञानपीठ पुरस्कार के सिलसिले में भारत आए थे तो दिल्ली में श्रीकान्त वर्मा के निवास स्थान पर श्रीकान्त वर्मा एवं अज्ञेय के साथ

मिलकर उन्होंने इसी प्रकार की एक और कविता लिखी थी. पर इस बार इस प्रकार की कविता-रचना का खयाल अज्ञेय के मन में आया था. तो पाज, अज्ञेय और श्रीकान्त वर्मा—तीनों ने पहले इसी क्रम में कविता की एक-एक पंक्ति लिखी. इसके बाद उल्टे क्रम में—अर्थात श्रीकान्त वर्मा, अज्ञेय एवं पाज—एक-एक पंक्ति और लिखी गई. अंत में पहले वाले क्रम में प्रत्येक ने दो-दो पंक्तियां और लिखीं. पाज ने अपनी पंक्तियां स्पेनी में लिखी थीं तथा अज्ञेय और श्रीकान्त वर्मा ने हिन्दी में. बाद में इनका स्पेनी से अंग्रेजी में अनुवाद श्रीमती पाज ने और हिन्दी से अंग्रेजी में अनुवाद अज्ञेय और श्रीकान्त वर्मा ने किया. कुल ढाई घंटे में यह कविता लिखी गई थी.*

जो कुछ भी, इन लेखों में हमने कुछ ऐसे अछूते विषयों की चर्चा की है जो साहित्य जगत में सभी दृष्टि से विचारणीय हैं. आशा है इस संग्रह के प्रकाशन से साहित्य जगत में इन विषयों की चर्चा को केवल बल ही नहीं मिलेगा, वरन हिन्दी संस्थाओं, लेखकों, सम्पादकों एवं प्रकाशकों को हिन्दी प्रकाशनों को स्तरीय बनाने में दिशा-संकेत भी मिलेगा.

*विस्तृत विवरण के लिए देखिए इलस्ट्रेटेड वीकली आफ इंडिया/२ फरवरी १९८६/पृष्ठ ३९

हिन्दी संदर्भ साहित्य : कुछ अपेक्षाएं

विदेशों में दो दशक से भी अधिक समय तक विभिन्न भाषाओं के अनेक संदर्भ ग्रंथों के सम्पर्क में आने के बाद अब जब हम स्थायी रूप से भारत लौटे हैं तो पिछले दो दशकों में हिन्दी में विविध विषयों पर प्रकाशित कई संदर्भ ग्रंथ देखने का अवसर मिला है. हिन्दी के विकास की दिशा में यह एक बहुत ही अच्छी बात है. कुछ विषय तो ऐसे हैं जिन पर अब तक कई संदर्भ ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं और अभी भी उन विषयों पर कई अन्य ग्रंथ प्रकाशित होने की योजनाएं हैं. दूसरी ओर कुछ विषय ऐसे भी हैं जो अब तक पूर्णतः उपेक्षित से ही रहे हैं और लगता है कि अभी तक इनकी ओर किसी प्रकाशक का ध्यान नहीं गया है, जब कि किसी भी क्षेत्र में किये गये शोध का महत्व उस विषय में प्राप्य संदर्भ ग्रंथों एवं उनके स्तर से पता चलता है.

संदर्भ ग्रंथों के प्रकाशन के क्षेत्र में हिन्दी की दो सबसे पुरानी एवं प्रतिष्ठित संस्थाओं—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग और नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी—के साथ-ही-साथ कुछ सरकारी-अर्द्ध-सरकारी एवं व्यावसायिक प्रकाशकों ने भी पहल की है. यह भी प्रसन्नता की बात है कि कुछ व्यावसायिक प्रकाशन संस्थाएं केवल संदर्भ ग्रंथ ही प्रकाशित कर रही हैं. सरकारी-अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं में साहित्य अकादमी, हिन्दी समिति—उत्तर प्रदेश एवं बिहार राष्ट्र भाषा परिषद के नाम उल्लेखनीय हैं. व्यावसायिक प्रकाशकों में राजकमल, आत्माराम एण्ड संस, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, ज्ञानमंडल एवं स्मृति प्रकाशन के नाम उल्लेखनीय हैं.

हिन्दी जगत के लिए जहाँ यह एक शुभ संकेत है, वहाँ प्रकाशित ग्रंथ को देखने से पता चलता है कि अधिकांश व्यावसायिक प्रकाशकों का (एवं शायद उनके लेखकों का भी) मुख्य उद्देश्य कीमती संदर्भ ग्रंथ

प्रकाशित कर उन्हें पुस्तकालयों एवं विश्वविद्यालयों में पहुंचाकर आर्थिक लाभ प्राप्त करना मात्र रहा है. पिछले २० वर्षों में प्रकाशित जो संदर्भ ग्रन्थ हमारे देखने में आए हैं, उनके आधार पर हम यह निःसंकोच कह सकते हैं कि इनमें से अधिकांश देखने में जितने मोटे हैं (या यों कहा जाए कि उनकी पृष्ठ संख्या जितनी अधिक है) और उनसे जो सूचना प्राप्त होती है, वही सूचना उनसे आधे से भी कम पृष्ठों में आसानी से दी जा सकती थी. पर इस ओर न तो लेखक ही ध्यान देते हैं और न प्रकाशक ही. क्योंकि, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ऐसा प्रतीत होता है कि सन्दर्भ ग्रन्थों को प्रकाशित करने में प्रकाशकों का मुख्य उद्देश्य इन संदर्भ ग्रंथों की उपयोगिता की ओर कम, आर्थिक लाभ की ओर अधिक रहता है.

जहाँ तक संदर्भ ग्रंथों में प्राप्य सूचना एवं सामग्री का सम्बन्ध है, अधिकांश सन्दर्भ ग्रन्थों से निराशा ही होती है और कभी-कभी तो इन सन्दर्भ ग्रन्थों में प्राप्य सूचना इतनी भ्रामक होती है कि यदि पाठक सजग नहीं हुआ तो उसे लाभ की अपेक्षा हानि होने की अधिक सम्भावना रहती है. कभी-कभी तो ऐसा भी देखने में आया है कि लेखक ने जो सूचना देने की बात भूमिका में कही है, पुस्तक में वह सूचना या तो होती ही नहीं और यदि होती भी है तो उसे जानने के लिए पाठक को काफी सोचना-समझना पड़ता है. प्रकाशक भी इस ओर से अनभिज्ञ सा ही रहता है कि वह जो ग्रन्थ प्रकाशित कर रहा है उसकी उपयोगिता क्या है ? देखने में यह भी आया है कि कभी-कभी ग्रन्थों के सम्पादकों को भी इस वात की जानकारी नहीं रहती कि ग्रन्थ में दी गई सामग्री कितनी उपयोगी है, कितनी सही है तथा उसमें जो कुछ है, क्या पाठक उसका उपयोग आसानी से कर पाएंगे ? इसके बावजूद इस प्रकार के ग्रन्थों का प्रकाशन निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है.

विचारणीय है कि ऐसा क्यों हो रहा है ? पत्र-पत्रिकाओं में इन ग्रन्थों की जो समीक्षाएँ प्रकाशित होती हैं वे प्रायः आधिकारिक विद्वानों द्वारा नहीं लिखी जाती हैं. ज्यादातर समीक्षकों को ग्रन्थ का परिचय या तो ग्रन्थ के रेपर (डस्ट कवर) से मिलता है या फिर भूमिका से. इन सूत्रों से प्राप्त सूचना के आधार पर वे प्रायः प्रशंसात्मक समीक्षा ही लिखते हैं. इसके उपलक्ष्य में उन्हें सौ—डेढ़ सौ रु० या इससे अधिक का ग्रन्थ तो मुफ्त में मिलता ही है, किसी-किसी पत्रिका से पारिश्रमिक भी

मिलता है. पुस्तक में जो सामग्री है और उसे किस रूप में प्रस्तुत किया गया है, यह जानना वे आवश्यक नहीं समझते. प्रशंसात्मक समीक्षा के लिए पुस्तक की लम्बी पृष्ठ संख्या, आकर्षक कवर, सुन्दर छपाई और अधिक मूल्य—बस इतनी ही बातें आवश्यक होती हैं.

प्राय: देखा गया है कि सन्दर्भ ग्रन्थों के अन्त में ऐसी पुस्तकों की सूची दी हुई रहती है जिनका उपयोग लेखक ने अपनी पुस्तक लिखने में किया है, जिनका उल्लेख पुस्तक में हुआ है या लेखक जिन्हें उस विषय के अध्ययन के लिए उपयोगी समझता है. इससे पाठकों को यह लाभ होता है कि उन्हें उस विषय पर लिखी गई अन्य महत्वपूर्ण पुस्तकों की सूचना मिल जाती है. पर इन ग्रन्थ-सूचियों में लेखक पुस्तकों के विषय में ऐसी अपूर्ण, प्रायः भ्रामक एवं कभी-कभी गलत सूचनाएं देते हैं कि पाठकों को लाभ की अपेक्षा हानि ही होती है और सही पुस्तक या तो मिलती ही नहीं या उसका पता लगाने में काफी समय नष्ट होता है. **भाषा शास्त्र का पारिभाषिक शब्द कोश** (राजेन्द्र द्विवेदी/आत्माराम एण्ड संस/१९६३) के तीसरे परिशिष्ट में ग्रन्थ सारणी दी हुई है. इस सारणी में दी गई दो पुस्तकों के नाम हैं :

१. **एडमण्डम—इन्ट्रोडक्शन टू कम्पेरेटिव फिलौलौजी**
२. **ब्रिटिश विश्वकोश**

पहली पुस्तक के साथ न तो लेखक का प्रथम नाम दिया हुआ है और न प्रकाशक या प्रकाशन वर्ष. यह सर्वबिदित है कि पुस्तकालयों के सूची पत्रों में प्रविष्टियाँ प्रायः लेखक के नामानुसार होती हैं. अतः लेखक का प्रथम नाम न मालूम होने के कारण पाठक को **एडमण्डम** नाम की सभी प्रविष्टियां देखना पड़ेंगी. यदि पुस्तकालय में यह पुस्तक प्राप्य है है तो हो सकता है कि **एडमण्डम** नाम पर केवल इसी लेखक की इसी पुस्तक की प्रविष्टि मात्र हो और यह भी संभव है कि **एडमण्डम** नामक अन्य लेखकों की ४०-५० या अधिक पुस्तकें हों. ऐसी स्थिति में पाठक को **एडमण्डम** नाम की वे सभी प्रविष्टियां तब तक देखना पड़ेंगी जब तक कि उसे ऐच्छिक पुस्तक न मिल जाए और हो सकता है कि जो पुस्तक वह चाहता है वह पुस्तकालय में हो ही नहीं. इस प्रक्रिया में उसे ३०-४० मिनट या इससे अधिक समय भी लग सकता है. यदि ग्रन्थ सारणी में लेखक ने **एडमण्डम** का पहला नाम भी दे दिया होता तो पाठक को केवल २-४ मिनट में ही पुस्तकालय के सूचीपत्र से पता चल जाता कि यह पुस्तक पुस्तकालय में उपलब्ध है या नहीं.

दूसरी पुस्तक के साथ न तो लेखक का नाम दिया गया है, न प्रकाशक या प्रकाशन वर्ष. यदि मान लिया जाए कि विश्वकोश प्रायः लेखक या प्रकाशक के नाम से नहीं वरन कोश के नाम से ही जाने जाते हैं तो भी अन्य सूचनाओं के अभाव में इस ग्रन्थ का पता लगाना आसान नहीं है. कई पुस्तकालयों के सूचीपत्र देखने एवं वहां कर्मचारियों से व्यक्तिगत पूछताछ करने पर भी हमें जब इस पुस्तक का पता नहीं चला तो सबसे पहले यह जिज्ञासा हुई कि यह पुस्तक हिन्दी की है या अंग्रेजी की ? या कहीं लेखक ने किसी अंग्रेजी पुस्तक के नाम का हिन्दी अनुवाद तो नहीं कर दिया (भले ही वह गलत हो). बहुत सोच-विचार करने के बाद हमने अनुमान लगाया कि यह **एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका** का हिन्दी अनुवाद हो सकता है (यद्यपि सही अनुवाद **ब्रिटानिका विश्व-कोश** होना चाहिए). यदि हमारा अनुमान सही है तो हमारे विचार से लेखक ने एक ऐसी गलती की है जिसके लिए पाठक उसे कभी क्षमा नहीं करेंगे क्योंकि पुस्तकों का उल्लेख करते समय उनके नाम का अनुवाद तो किसी भी स्थिति में नहीं किया जाना चाहिए.

इस सम्बन्ध में एक अन्य बात यह भी दृष्टव्य है कि लेखक ने इस विश्वकोश का न तो प्रकाशन वर्ष दिया है और न संस्करण. साथ ही साथ यह भी नहीं बताया गया है कि पाठक को अपने विषय से सम्ब-न्धित सूचना इस विश्वकोश के कौन से खंड में मिलेगी. **ब्रिटानिका** का वर्तमान संस्करण ३० खण्डों में प्रकाशित हुआ है तथा पिछला संस्करण २४ खंडों का था. प्रत्येक खंड में सैकड़ों लेख एवं टिप्पणियाँ हैं. पाठक कौन से खंड का कौन सा लेख देखे ? पाठक की यह समस्या तब और भी कठिन हो जाती है जब वह देखता है कि **ब्रिटानिका** अंग्रेजी में है.

कलकत्ता की **भारतीय संस्कृति संसद** ने **भारतीय संस्कृति** (संपादक-प्रभाकर माचवे/ २ खंड/१९८३) शीर्षक एक ग्रन्थ प्रकाशित किया है. पांच सौ रु० मूल्य का यह ग्रंथ इसलिए महत्वपूर्ण है कि इसमें देश के अपने-अपने क्षेत्र के विद्वानों एवं विशेषज्ञों के साहित्य, भाषा, कला, इतिहास, दर्शन आदि विषयों पर गवेषणात्मक लेखों के संग्रह का दावा किया गया है. पर एक स्तरीय संदर्भ ग्रंथ की दृष्टि से इसके संपादन में भी वही कमी रह गई है जो प्रायः हिन्दी में प्रकाशित अन्य पुस्तकों में पाई जाती है. एक लेख **कविता एवं चित्रकला साहचर्य: प्राचीन से आधुनिक युग तक** (डा० जगदीश गुप्त/खंड १) में कहा गया है :

> **पो० डब्ल्यू लीविस जो ईलियट, एक्टोन और एजरा पाउण्ड के मित्रमंडल में थे, साहित्यिक के अतिरिक्त चित्रकार भी थे.** (पृष्ठ ८४)

बाद में फुटनोट में संदर्भ दिया गया है—The Modern Age, पृ० ७६.

यहां सबसे पहला प्रश्न यह उठता है कि उपरोक्त बात किसने कही है? स्वयं **दि माडर्न एज** के लेखक ने या **दि माडर्न एज** के लेखक ने किसी अन्य लेखक के मत का उल्लेख किया है?

दूसरा प्रश्न यह है कि **दि माडर्न एज** जिसका उल्लेख फुटनोट में है, कोई पुस्तक है या पत्रिका? यदि यह कोई पुस्तक है तो उसका लेख कौन है तथा उसके किस संस्करण के पृ० ७६ पर यह कहा गया है? पुस्तक के लेखक के नाम के अभाव में पाठक को इस पुस्तक का पता लगाने में सबसे बड़ी मुश्किल इसलिए होगी कि इस नाम की एक से अधिक पुस्तकें उपलब्ध हैं. क्या वह इन सभी पुस्तकों के पृ० ७६ देखे या यदि किसी एक पुस्तक का, तो कौन सी पुस्तक का? यदि **दि माडर्न एज** कोई पत्रिका है तो उसके किस वर्ष के किस अंक का पृ० ७६ पाठक को देखना चाहिए? पत्र-पत्रिका के संदर्भ में तो लेख का शीर्षक तथा लेखक का नाम देना बहुत आवश्यक रहता है. इसी प्रकार का एक और उदाहरण उसी पृष्ठ पर है :

> **यह दूसरी बात है कि योरोपीय चिन्तन में भी कहीं-कहीं कला से कविता को वरीयता दी गई है.**

और फुटनोट में इसका संदर्भ है Aesthetics Today पृ० २४१. इसके साथ भी वही प्रश्न उठते हैं जो हमने पहले उठाए हैं. इस संदर्भ ग्रंथ में ऐसे और भी कई उदाहरण हैं जिनसे पाठकों को सही सूत्र का पता लगाने में मुश्किल होगी और इसलिए ग्रंथ की उपयोगिता में कमी आ गई है.

इधर कुछ वर्षों से दिल्ली के **राजकमल प्रकाशन** ने प्रतिष्ठित साहित्यकारों की संपूर्ण कृतियां ग्रंथावली के रूप में प्रकाशित करने की योजना आरम्भ की है. अब तक सुमित्रानंदन पंत, हजारी प्रसाद द्विवेदी, निराला, बच्चन एवं मुक्तिबोध की कृतियों के संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं. दिल्ली के ही **वाणी प्रकाशन** ने भी **माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली** प्रकाशित की है. कुछ अन्य साहित्यकारों की कृतियों के प्रकाशन पर कार्य हो रहा है. हिन्दी जगत के लिए यह प्रसन्नता की बात है.

ये ग्रंथावलियां संबंधित साहित्यकार के संपूर्ण साहित्य की जानकारी के लिए किसी संदर्भ ग्रंथ के समान महत्वपूर्ण हैं. पर इनका संपादन एवं प्रकाशन जल्दबाजी में किया गया जान पड़ता है जिससे ये ग्रंथावलियां, जिनके प्रकाशन में काफी व्यय हुआ है, संबंधित लेखकों की कृतियों के संग्रह मात्र बनकर रह गई हैं. थोड़े से परिश्रम, नाम मात्र के अतिरिक्त व्यय एवं संपादकीय सूझ-बूझ से उन्हें अधिक उपयोगी बनाया जा सकता था. पर ऐसा प्रतीत होता है कि न तो संपादकों और न प्रकाशकों का ही ध्यान इस ओर जा पाया है.

हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली में **अशोक के फूल** किस खण्ड में है ? यह किसी पुस्तक का शीर्षक है या किसी निबन्ध का ? या यह कोई कविता है या उसकी प्रथम पंक्ति ? इन या इसी प्रकार के अन्य प्रश्नों के उत्तर के लिए **ग्रन्थावली** के प्रत्येक खंड की सूची देखते रहना तब तक आवश्यक है जब तक कि निर्दिष्ट शीर्षक किसी खंड की सूची में मिल न जाए. ऐसा करने में प्रत्येक पाठक का कितना समय नष्ट होगा, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं. **ग्रन्थावली** के संपादक या प्रकाशक क्या कुछ ऐसा नहीं कर सकते थे जिससे आवश्यक जानकारी प्राप्त करने के लिए पाठकों को प्रत्येक खण्ड देखना न पड़े.

इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखने की बात है कि भारत में पुस्तकालयों में अभी भी पाठकों को ऐसी सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं कि वे अपनी ऐच्छिक पुस्तकें आलमारी या पुस्तकाधार से स्वयं निकाल सकें. अधिकांश पुस्तकालयों में पाठकों को पुस्तकालयों के कर्मचारियों से कहकर ही कोई पुस्तक निकलवानी पड़ती है और इस प्रक्रिया में एक-एक पुस्तक के लिए उन्हें १०-१५ मिनट से लेकर ३०-४० मिनट या अधिक समय तक भी प्रतीक्षा करते रह जाना एक सामान्य बात है.

द्विवेदी जी के निबन्ध **ग्रंथावली** के नवें एवं दसवें खण्डों में संगृहीत किये गये हैं. पर किस खण्ड में कौन-कौन से निबन्ध हैं, यह उन खण्डों की विषय सूची या अनुक्रम देखकर ही मालूम हो सकता है. द्विवेदी जी का एक निबन्ध है **फिर से सोचने की आवश्यकता** है जो उनके निबन्ध संग्रह **कुटज** में संगृहीत किया गया था. यह निबन्ध इस **ग्रन्थावली** में देखने के लिए पाठक पहले स्वाभाविक ही नवां खण्ड देखेगा जिसके अनुक्रम में उसे तीसरे नंबर पर **कुटज** मिल जाएगा. अब वह भले ही नवां खण्ड पूरा देख डाले, पर जो निबन्ध वह चाहता है, वह

उसे नहीं मिलेगा. आप पूछेंगे—ऐसा क्यों ? उत्तर यह है कि वह निबन्ध तो दसवें खण्ड में है.

ग्रंथावली के **निवेदन** में कहा गया है:

> **निबंधों का विभाजन भी निबंध संग्रह तथा तिथि-क्रम के आधार पर न करके विषय के अनुसार ही किया गया है.**

पर न तो किसी खण्ड में और न किसी खण्ड के अनुक्रम में ही विषय-सूची दी गई है. ऐसी स्थिति में सामान्यत: किसी निबन्ध के शीर्षक से भी उसके विषय का पता लगाना आसान नहीं है. **फिर से सोचने की आवश्यकता** है किस विषय का निबन्ध हो सकता है ? यह कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं बतला सकता है जिसने पहले यह निबन्ध पढ़ा न हो. ऐसी स्थिति में अनुक्रम की अनुपयोगिता स्वयं सिद्ध हो जाती है.

एक और उदाहरण लीजिये. **पंत जी** ने **अनुपमा** नामक एक लड़की की स्मृति में कुछ गीत लिखे थे. ये गीत **सुमित्रानंदन पंत ग्रन्थावली** (७ खण्ड) के किस खण्ड में मिलेंगे ? पाठक प्रत्येक खण्ड की सूची कितनी ही बार क्यों न देख जाए, उसे ये गीत नहीं मिलेंगे. इन गीतों को ग्रंथावली में देखने के पहले उसे यह मालूम होना चाहिए कि ये गीत **शशि की तरी** नामक कविता संग्रह में हैं. पर यदि उसे यह पता न हो तो ? तब तो शायद उसे पूरी **ग्रन्थावली** के हजारों पृष्ठों में से एक-एक पृष्ठ ध्यानपूर्वक देखना होगा और तब भी उसे यदि अपनी ऐच्छिक सूचना मिल जाए तो अपना सौभाग्य समझना चाहिए.

अब आप किसी ऐसी कविता को लें जिसकी प्रथम पंक्ति तो आपको याद है, पर यह पता नहीं कि वह किस कविता-संग्रह में है ? तो इसके लिए भी आपको प्रत्येक खण्ड के अनुक्रम की एक-एक पंक्ति **देखनी पड़ेगी** और उसके बाद भी कोई जरूरी नहीं कि वह कविता आपको मिल ही जाएगी, क्योंकि अनुक्रम में कविताएं प्रथम पंक्ति से नहीं **वरन** कविताओं के शीर्षक से दी गई हैं. **मैंने बोये फूल किन्तु उग आए कांटे** यह कविता आपको अनुक्रम में नहीं मिलेगी जब तक कि आपको पता न हो कि इसका शीर्षक **मनोभाव** है.

हिन्दी नाटक कोश (डॉ० दशरथ ओझा/नेशनल पब्लिशिंग हाउस/१९७५) एक बहुत ही महत्वपूर्ण संदर्भ ग्रंथ है पर आप यदि **रामकुमार**

वर्मा का कोई नाटक मंचित करना चाहें और मंचित करने के पहले यह पता लगाना चाहें कि उन्होंने कौन-कौन से नाटक लिखे हैं तो इस ग्रन्थ से आपको तब तक सहायता नहीं मिलेगी जब तक कि आप इसके साढ़े छः सौ पृष्ठ एक-एक कर न उलट लें. **मीरां कोश** (डॉ० शशिप्रभा/स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद/१९७५ ?) भी एक संदर्भ ग्रन्थ है पर ग्रन्थ में कहीं भी निर्देश नहीं दिया गया है कि इसमें दी गई सूचना का उपयोग किस प्रकार किया जाए. एक प्रविष्टि देखिए :

> **अनारी—(सं० अनार्य) अनाड़ी, नासमझ. उदा०**
> **आज अनारी ले गयो सारी, बैठी कदम की डारी,**
> हे माय. १६९/६६९, १६९/

प्रविष्टि के अंत में १६९/६६९, १६९ का क्या तात्पर्य है ? इसी प्रकार **केशव कोश** (विजयपाल सिंह/नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी/२०३३ वि० सं०) का एक उदाहरण लें :

> **आनियो— क्रियापद. आई.** रा० १३-६८-१. ३१-१-२.
> ३९-१-४

कोश में केशव के ग्रंथों की सूची एवं कोश में प्रयुक्त ग्रंथ संकेताक्षर की सूचना भी दी गई है, यथा **रा० रामचन्द्रिका**. इससे पता चलता है कि **आनियो** शब्द **रामचन्द्रिका** में प्रयुक्त हुआ है पर **रामचन्द्रिका** में कहां प्रयुक्त हुआ है ? पृष्ठ १३ पर, ६८ पर या १ पर ? या ये संख्याएँ पृष्ठों की न होकर पदों, परिच्छेदों आदि की हैं ? यदि पृष्ठों की हैं तो कौन से संस्करण के पृष्ठों की हैं ? निश्चय ही पिछले ३०-४० वर्षों में **रामचन्द्रिका** के एक से अधिक संस्करण प्रकाशित हुए हैं और उनमें अलग-अलग पृष्ठों पर एक ही पद, दोहा या छन्द आदि मिलेगा. **हिन्दुस्तानी एकेडेमी**, प्रयाग से भी **केशव ग्रंथावली** का प्रकाशन हुआ है. क्या **केशव कोश** का उपयोग **केशवदास** की पुस्तकों के किसी भी संस्करण के साथ किया जा सकता है ? यदि हां, तो किस प्रकार ?

होना तो यह चाहिए था कि **केशव कोश** की भूमिका में यह संकेत भी मिलता कि कोश का उपयोग किस प्रकार किया जाए, संबंधित संख्याएँ पदों और पंक्तियों की हैं या पृष्ठों की और **केशवदास** की किस-किस पुस्तक के किस-किस संस्करण का उपयोग कोश के लिए किया गया है, आदि. इन सूचनाओं के अभाव में **केशव कोश** का उपयोग पाठक अच्छी तरह एवं कुशलता से नहीं कर पाएंगे और संबंधित पृष्ठ, पद, आदि का पता लगाने में उनका समय तो नष्ट होगा ही.

प्रकाशकीय में दावा किया गया है कि यह कोश **केशव** की समस्त नौ रचनाओं में प्रयुक्त शब्दों और पदों का कोश है पर **कोश** में हमें 'कबिनि' और 'कलित' शब्द नहीं मिले. 'कबिनि' शब्द **कविप्रिया** के चौथे खण्ड के प्रथम दोहे की प्रथम पंक्ति में तथा 'कलित' शब्द सातवें खण्ड के २७वें दोहे की द्वितीय पंक्ति में प्रयुक्त हुआ है, यथा :

'केसव' तीनिहु लोक में, त्रिविध कबिनि के तात

और

कोकिल-कलरव-कलित बन, कोमल सुरभि समीर[1]

संभव है कि संपादक ने **कविप्रिया** के जिस संस्करण का उपयोग इस कोश को तैयार करने में किया है, उसमें ये और इसी प्रकार के अन्य शब्द न हों. ऐसी स्थिति में यह बतलाना तो और भी आवश्यक हो जाता है कि कोश तैयार करने में किस पुस्तक के किस संस्करण का उपयोग किया गया है.

कभी-कभी ग्रन्थों के नाम भी भ्रामक रहते हैं. जैसे **मीरां कोश** और **केशव कोश** के नाम वस्तुत: **मीरां शब्द कोश** और **केशव शब्द कोश** होना चाहिए क्योंकि इनमें क्रमशः मीरां एवं केशव की रचनाओं में प्रयुक्त शब्दों का परिचय (उनके अर्थ सहित) मात्र है.

कुछ प्रकाशक सन्दर्भ ग्रन्थों को अधिक-से-अधिक मोटा केवल इस गलत धारणा के आधार पर बनाते हैं कि सन्दर्भ ग्रन्थ में जब तक अधिक पृष्ठ न होंगे, पुस्तकालय और पाठक उन्हें सन्दर्भ ग्रन्थ नहीं मानेंगे. चूँकि सन्दर्भ ग्रन्थ उनकी उपयोगिता-अनुपयोगिता का विचार किये बिना पुस्तकालयों द्वारा प्रायः तुरन्त खरीद लिये जाते हैं, अत: पृष्ठ संख्या बढ़ने के कारण लेखक और प्रकाशक को किसी प्रकार की हानि नहीं होती. पृष्ठ संख्या बढ़ेगी तो पुस्तक का मूल्य भी बढ़ेगा ही. ऐसी कई पुस्तकें हमारे देखने में आई हैं. **साहित्यिक शब्दावली** (प्रेमनारायण टण्डन/हिन्दी साहित्य भण्डार/द्वितीय संस्करण/१९६२) के नाम से सामान्य पाठक यही समझेगा कि इसमें साहित्य में प्रयुक्त किये जाने वाले शब्द एवं उनके अर्थ मिलेंगे पर इस पुस्तक में साहित्य के नाम पर ऐसे बहुत से शब्द भी दिये गये हैं जिन्हें 'साहित्यिक' शब्द तो किसी भी स्थिति में नहीं कहा जा सकता है. मानव प्रकृति, भावना, कार्यकलाप, जीवन क्रम, दर्शन, राजनीति, इतिहास, भूगोल, समाज-शास्त्र आदि विषयों के शब्दों को भी इसमें दे दिया गया है. यदि

[1]. केशव ग्रन्थावली/सम्पादक—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र/ खण्ड १/ हिन्दुस्तानी एकेडेमी/द्वितीय संस्करण, १९७७

साहित्यिक शब्दावली में लज्जित करना, मठाधिपति, पथभ्रष्ट प्रवीण, समर्थ, और योग्य जैसे शब्द दिये जा सकते हैं तो फिर साहित्य के नाम पर इस प्रकार एक अलग शब्द कोश निकालने की आवश्यकता ही क्या थी ?

अव हम **हिन्दी विश्वकोश** को लें जिसके १२ खण्डों के प्रकाशन का पूरा व्यय **भारत सरकार** ने दिया था और जो हिन्दी की अग्रणी संस्था **नागरीप्रचारिणी सभा**, वाराणसी द्वारा प्रकाशित किया गया है. हिन्दी का सबसे बड़ा विश्वकोश होने के बावजूद हिन्दी जगत में उसकी इतनी चर्चा नहीं हुई जितनी कि होनी चाहिए थी।

किसी भी विश्वकोश का उपयोग प्रायः इसीलिये किया जाता है कि उससे किसी नाम, विषय, व्यक्ति, घटना, स्थान आदि की जानकारी प्राप्त होगी. यह आवश्यक नहीं और न यह संभव ही है कि विश्वकोश में प्रत्येक ज्ञात-अज्ञात विषय पर लेख या टिप्पणियाँ हों पर इतना तो अवश्य होना चाहिए कि जिन विषयों पर स्वतंत्र लेख न हों, उनके सम्बन्ध में यदि विश्वकोश में किसी जगह कोई उल्लेख या सूचना है तो इसका ज्ञान पाठकों को आसानी से हो जाए. यदि पाठक यह भी पता न लगा सके कि विश्वकोश में किसी विषय की सूचना किस खण्ड में किस पृष्ठ पर है तो फिर उसकी उपयोगिता ही क्या रह जाती है ?

आप **हिन्दी विश्वकोश** के दूसरे खण्ड में अकारादि क्रम में 'एडिनबरा' देखेंगे तो नहीं मिलेगा पर चौथे खण्ड में 'चिशोल्म, जार्ज गुडी' की प्रविष्टि के अन्तर्गत बतलाया गया है कि यह स्काटलैंड का एक नगर है. सामान्य पाठक को यह सूचना कैसे मिलेगी ? या तो वह विश्वकोश के हजारों पृष्ठों पर छपी एक-एक पंक्ति ध्यानपूर्वक पढ़े (ऐसा करना शायद ही कोई चाहेगा क्योंकि **एडिनबरा** सम्बन्धी यह सूचना तो उसे अन्य पुस्तकों में आसानी से मिल जाएगी) या **हिन्दी विश्वकोश** के सम्पादकों की विद्वत्ता पर कई-कई प्रश्न चिन्ह लगा दे. इसी प्रकार अमरीकी उपन्यासकार **जेम्स फेनीमोर कूपर** के लिए यदि कोई पाठक तीसरा खण्ड (अकारादि क्रम में 'किंग लियर' से 'गैजेल, गीदो' तक) देखे तो उसे निराश ही होना पड़ेगा. पर **कूपर** का उल्लेख पहले खण्ड में **अमरीकी साहित्य** लेख में हुआ है यद्यपि **विश्वकोश** से इस संबन्ध में कोई सूचना नहीं मिलती. यदि कोई पाठक **विश्व-कोश** की सहायता से **कूपर** का पूरा नाम जानना चाहे तो भी उसे

अपने प्रयत्न में सफलता नहीं मिलेगी क्योंकि **अमरीकी साहित्य** लेख में **भी कूपर** का पूरा नाम नहीं दिया गया है.

होना यह चाहिए था कि **एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका** के समान (जिसके आधार पर, **हिन्दी विश्वकोश** के संपादकों के कथनानुसार, **हिन्दी विश्वकोश** का निर्माण हुआ है) **विश्वकोश** का एक और अंतिम या इण्डेक्स खण्ड तैयार करवाना चाहिए था जिसमें उन सब बातों का उल्लेख खण्ड एवं पृष्ठानुसार होता जिनके विषय में **हिन्दी विश्वकोश** में सूचना है या जिनका उल्लेख **हिन्दी विश्वकोश** में किसी न किसी रूप में हुआ है. इण्डेक्स खण्ड के अभाव में **विश्वकोश** की आधी से अधिक उपयोगिता स्वयं ही नष्ट हो गई है.

हिन्दी सन्दर्भ साहित्य के क्षेत्र में एक बहुत बड़ी कमी, जिसे जल्दी से जल्दी पूरी करना चाहिए, है—प्रसिद्ध लेखकों की ग्रन्थ-सूचियां जिनमें उनकी प्रत्येक कृति के विषय में संक्षिप्त जानकारी के साथ ही यह सूचना भी रहे कि उन कृतियों के विषय में किसने, कब, कहाँ क्या लिखा है.

प्रकाशन की दृष्टि से हिन्दी सन्दर्भ ग्रन्थों का क्षेत्र बहुत व्यापक है. इस लेख में हमने केवल कुछ अपेक्षाओं की ओर ही ध्यान दिलाया है. यदि समर्थ और जागरूक प्रकाशक इस ओर ध्यान दें और अभी जो अपेक्षाएँ हैं उन्हें पूरी करने का प्रयत्न करें तो व्यावसायिक दृष्टि से तो उन्हें लाभ होगा ही, हिन्दी जगत की भी वे बहुत बड़ी सेवा करेंगे.

● ●

हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की विषय-सूची :
एक विचारणीय प्रश्न

हिन्दी में प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं की प्रचुर-संख्या जहां हमें आशान्वित करती है, वहीं कई समस्याएं भी पैदा करती हैं. अन्य समस्याओं की बात न कर अभी हम केवल इस समस्या पर ही विचार करेंगे कि उनमें प्रकाशित महत्वपूर्ण सामग्री का ऐच्छिक उपयोग किस प्रकार किया जाए ? प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं की संख्या अब इतनी अधिक हो गई है कि व्यक्ति विशेष को तो छोड़ ही दें, बड़े-बड़े पुस्तकालय भी सभी पत्रिकाएँ नहीं खरीद सकते. इनमें प्रकाशित सामग्री को देखने से पता चलता है कि इनमें न केवल विचार-वैविध्य है, कभी-कभी अज्ञात लघु पत्रिकाओं में भी इतने महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित होते हैं कि उस विषय में रुचि रखने वाला कोई भी पाठक उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता. पर उसे यह पता कैसे चलेगा कि किस पत्रिका में कब, क्या प्रकाशित हुआ है ? या उसके विषय से सम्बन्धित क्या-क्या सामग्री कब-कब, कहाँ-कहाँ प्रकाशित हुई है ?

राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर पिछले दो-तीन वर्षों में क्या-क्या लिखा गया है, इसका पता आपको कैसे लगेगा ? भारत-भारती पुरस्कार गृहण करने के अवसर पर श्रीमती महादेवी वर्मा ने क्या कहा था और उसके बाद प्रयाग के साहित्यकारों ने उसके विरोध में जो वक्तव्य दिया था, वह कहाँ प्रकाशित हुआ था ? महादेवी जी को ज्ञानपीठ पुरस्कार मिलने की घोषणा के तुरन्त बाद अज्ञेय जी ने महादेवी जी का जो साक्षात्कार लिया था, क्या वह कहीं प्रकाशित हुआ था ? छठे दशक में उत्तर प्रदेश में (और शायद अन्य प्रदेशों में भी) 'अ ग्रेजी हटाओ अभियान' शुरू हुआ था, इस सम्बन्ध में जानकारी कहाँ मिलेगी ? आदि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनके संबंध में बहुतों को जिज्ञासा हो सकती है, पर वे किससे पूछें ? ऐसे कुछ ही लोग होंगे जो इन प्रश्नों का

उत्तर दे सकें और पुस्तकालयों से तो जिज्ञासुओं को निराशा ही हाथ लगेगी. क्या ऐसा कुछ नहीं किया जा सकता कि जिज्ञासुओं को ऐसे और इस प्रकार के अन्य प्रश्नों का उत्तर आसानी से मिल जाए ?

इस सम्बन्ध में यह वात भी विशेष रूप से ध्यान में रखने की है कि वहुत से ऐसे विषय हैं जिन पर अभी तक कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई है और कब प्रकाशित होगी, यह कहना कठिन है। पत्र-पत्रिकाओं में उन विषयों पर काफी चर्चा हुई है और समय-समय पर विद्वानों के लेख भी प्रकाशित हुए हैं, पर उनके पुराने अंकों को देखने मात्र से किसी सामान्य व्यक्ति के लिए आसानी से इन प्रश्नों का उत्तर पाना संभव नहीं है. अन्वेषकों को पिछले कई वर्षों के पुराने अंकों के पन्ने उलटने पड़ेंगे और उसके वाद भी उन्हें ऐच्छिक सूचना मिल ही जाएगी, इसमें संदेह है. इस कार्य में उन्हें कितना समय नष्ट करना पड़ेगा, इसकी कल्पना केवल भुक्तभोगी ही कर सकते हैं. केवल इतना ही नहीं, उसके बाद यदि किसी अन्य व्यक्ति को फिर इन्हीं बातों की जानकारी प्राप्त करनी हो तो उसे भी इसी प्रक्रिया से गुजरना पड़ेगा, पत्र-पत्रिकाओं की फाइलें देखना पड़ेंगी और अनर्थक परिश्रम और समय नष्ट करना पड़ेगा. इस प्रकार के जिज्ञासुओं को अकारण और बार-वार परिश्रम न करना पड़े और समय नष्ट न करना पड़े, क्या इसके लिए कुछ नहीं किया जा सकता ?

लगता है कि इस ओर अभी तक न तो पत्र-पत्रिकाओं का ध्यान गया है और न अन्य प्रकाशकों ने ही इस विषय पर सोचने की कुछ कोशिश की है. अंग्रेजी भाषा में, विशेषकर यूरोप और अमेरिका में प्रकाशित होने वाली जितनी भी अच्छी पत्रिकाएं हैं, प्रायः सभी की वार्षिक, पंच-वर्षीय, और किसी-किसी की दस या वीस-वर्षीय सूचियां भी उपलब्ध हैं. पर हिन्दी में किसी समाचार पत्र की तो बात ही वहुत दूर, श्रेष्ठ एवं स्तरीय साहित्यिक मासिक, त्रैमासिक पत्रिकाओं की विषय सूची भी उपलब्ध नहीं हैं. पहले **ज्ञानोदय** ने इस क्षेत्र में कुछ कार्य किया था, जब वर्ष के अंत में पिछले १२ अंकों की विषय-सूची प्रकाशित की जाती थी, पर वे सूचियां वहुत उपयोगी नहीं होती थीं क्योंकि वे सही मायने में विषय-सूची न होकर लेखक एवं शीर्षक सूची मात्र होती थीं. यदि आपको लेखक का नाम या लेख का शीर्षक ज्ञात हो तब तो इन सूचियों से पता चल सकता था कि कौन से अंक में वह लेख प्रकाशित हुआ है. पर यदि आप यह जानना चाहें कि किसी विषय विशेष पर **ज्ञानोदय** में पिछले वर्ष या कब, क्या प्रकाशित

हुआ है तो इन सूचियों से कोई सहायता नहीं मिलेगी. इसके लिए तो आपको प्रत्येक वर्ष की पूरी शीर्षक सूची देखना पड़ेगी और उसके बाद भी निश्चित नहीं कि आपको ऐच्छिक सूचना मिल ही जाएगी. क्योंकि कभी-कभी ही नहीं, अक्सर ही ऐसा देखा गया है कि किसी लेख के शीर्षक मात्र से उसके विषय का ज्ञान नहीं होता. **कब साकार होगा सपना** (साप्ताहिक हिन्दुस्तान/१५ से २१ सितम्बर, १९८५/ पृष्ठ १२) और **कोने में रखा हुआ वाद्य** (ज्ञानोदय/जून १९६९ / पृष्ठ १५२) ऐसे ही शीर्षक हैं. हिन्दी की प्रतिष्ठा और उसे प्रतिष्ठापित करने के मुद्दे को **कब साकार होगा सपना** में उठाया गया है. बात ठीक है, लेकिन उक्त शीर्षक से इसका अंदाजा कतई नहीं लगाया जा सकता कि इसमें हिन्दी से सम्बद्ध बातें की जा रही हैं. ऐसे ही **कोने में रखा हुआ वाद्य** किसी कहानी या उपन्यास के शीर्षक का भ्रम तो कर सकता है पर इसका आभास तक नहीं देता कि यह **श्रीकांत वर्मा** द्वारा लिखी गई **श्री नरेश मेहता** के कथा-संग्रह **एक समर्पित महिला** की समीक्षा है. अतः हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की विषय-सूची एक ऐसी आवश्यकता है जिसकी ओर प्रकाशकों को शीघ्र ध्यान देना चाहिए. विषय-सूची में कोई नई सूचना नहीं रहती. किसी पत्र-पत्रिका में जो कुछ प्रकाशित हुआ है, उसी पूरी सामग्री की व्यवस्थित सूची ही विषय-सूची कहलाती है.

'विषय-सूची' और 'विषय-शीर्षक'

ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जब यह कार्य इतना महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है, तो इसका प्रारंभ कैसे किया जाए ? हमारा सुझाव है कि प्रारंभ में त्रैमासिक पत्रिकाओं याने शोध पत्रिकाओं के प्रकाशक अपनी-अपनी पत्रिकाओं की विषय-सूची तैयार करवाएं. मासिक पत्रिकाओं की अपेक्षा त्रैमासिक पत्रिकाओं की विषय-सूची से यह कार्य प्रारंभ करने में एक सुविधा यह रहेगी कि त्रैमासिक पत्रिकाएं प्रायः किसी विषय विशेष से सम्बन्धित रहने के कारण प्रारंभ में विषय-शीर्षकों का चुनाव करने में सुविधा होगी. एक बार विषय-शीर्षकों का चुनाव हो जाने पर फिर पत्रिका में प्रकाशित लेखों से सम्बन्धित विषय-शीर्षक चुनने या नए विषय-शीर्षक बनाने में कठिनाई नहीं होगी.
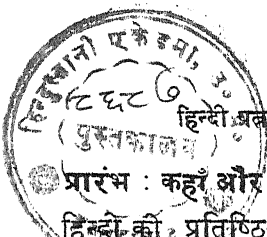
प्रारंभ : कहाँ और कैसे ?

हिन्दी की प्रतिष्ठित एवं स्थायी महत्व की सभी पत्र-पत्रिकाओं की विषय-सूची बनाना एक अत्यंत ही व्यय-साध्य एवं दीर्घकालीन कार्य है. पर **सरस्वती, कल्पना, अजन्ता, पाटल, ज्ञानोदय, क ख ग, नया समाज, अवन्तिका, विशाल भारत**, आदि कुछ ऐसी पत्रिकाएं हैं जिनका प्रकाशन अब भले ही बन्द हो गया हो, इनके जितने भी अंक प्रकाशित हुए हैं, सभी हिन्दी साहित्य के लिए स्थायी महत्व की वस्तु हैं. केवल अनुसंधानकर्ताओं के लिए ही नहीं, सामान्य पाठकों के लिए भी इनका अपना अलग महत्व है. इसी प्रकार अभी भी निकल रही पत्रिकाओं में **आलोचना**, **अक्षरा**, **साक्षात्कार, पूर्वग्रह, गगनांचल, दस्तावेज, सम्मेलन-पत्रिका, अनुसंधान, हिन्दुस्तानी,** आदि के साथ ही कुछ अन्य लघु-पत्रिकाओं के महत्व से भी इन्कार नहीं किया जा सकता. इन पत्रिकाओं के अतिरिक्त बहुत-सी ऐसी लघु पत्रिकाएं भी हैं जो भले ही केवल एक अंक निकालकर बन्द हो गई हों या जो अभी भी अनियतकालीन रूप में प्रकाशित हो रही हों, उनके अंकों में प्रायः ही ऐसे महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए हैं या होते रहते हैं जिनकी साहित्य जगत में चर्चा होती रहती है. अतः हिन्दी जगत को इस दिशा में मार्ग-दर्शन के लिए **हिन्दी साहित्य सम्मेलन, हिन्दुस्तानी एकेडेमी** और **नागरीप्रचारिणी सभा** जैसी संस्थाएं यह महत्वपूर्ण कदम उठाकर अग्रगामी बन सकती हैं. इन तीनों संस्थाओं की अपनी अलग-अलग महत्वपूर्ण पत्रिकाएं प्रकाशित होती हैं. **सम्मेलन पत्रिका** का प्रकाशन पिछले करीब ६८ वर्ष से हो रहा है, **हिन्दुस्तानी** का लगभग ४४ वर्षों से. इसी प्रकार **नागरीप्रचारिणी पत्रिका** भी काफी लम्बे समय से प्रकाशित हो रही है. इस अवधि में इन पत्रिकाओं के प्रत्येक अंक में ख्यात विद्वानों, शोधकर्ताओं एवं विशेषज्ञों के गवेषणात्मक, शोधपरक एवं समीक्षात्मक महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए हैं. पर कब-कब, क्या-क्या प्रकाशित हुआ है, यह जानने या किसी लेख विशेष को देखने के लिए किसी भी पाठक को इतने वर्षों की पूरी फाइलें देखना आवश्यक हो जाता है. अतः हिन्दी साहित्य के इस अभाव की पूर्ति और इस दिशा में मार्गदर्शन हेतु उक्त तीनों संस्थाओं द्वारा सम्मिलित रूप से या अलग-अलग इन पत्रिकाओं की ऐसी विषय सूचियां तैयार कराई जानी चाहिए जो पुस्तकालय विज्ञान के सिद्धान्तों पर आधारित हों तथा जिनसे जिज्ञासुओं को

समय का अपव्यय किए बिना इस बात का ज्ञान आसानी से हो सके कि **सम्मेलन पत्रिका, नागरी प्रचारिणी पत्रिका** या **हिन्दुस्तानी** में किसी विषय विशेष के सम्वन्ध में कब-कब, क्या-क्या प्रकाशित हुआ है या किसी विषय-विशेष से सम्बन्धित कोई लेख प्रकाशित भी हुआ है या नहीं ? कहने की आवश्यकता नहीं कि यह कार्य साधारण सूचियों याने 'लेखक सूची' और 'शीर्षक सूची' से हटकर बहुत ही व्यापक है और किसी अनुभवी एवं पुस्तकालय विज्ञान तथा 'इंडेक्सिग' पद्धति में प्रशिक्षित व्यक्ति द्वारा ही अच्छी तरह किया जा सकता है.

विषय-सूची का प्रारंभ

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस कार्य के लिए पहले मुख्य विषय-शीर्षकों एवं उप विषय-शीर्षकों की ऐसी सूची वनानी होगी जिसमें हिन्दी भाषा एवं साहित्य से संबंधित प्रायः सभी संभावित विषयों एवं उनके अंगों-प्रत्यंगों का समावेश हो. इसके वाद उक्त पत्रिकाओं में प्रकाशित प्रत्येक रचना (लेख, समीक्षा, पाठकों के पत्र, आदि) को पढ़कर यह पता लगाना होगा कि उस लेख की सामग्री किस विषय और उप विषय या उसके अंग-प्रत्यंग आदि से सम्बन्धित है. इस प्रकार एक-एक लेख पढ़कर विषय-शीर्षक निर्धारित किये जाऐंगे. विषय-शीर्षक सूची में आवश्यकतानुसार नये-नये विषय जुड़ते जाएंगे और इस प्रकार जो विषय-सूची तैयार होगी, वह सही अर्थों में इन पत्रिकाओं की विषय-सूची होगी. इस प्रकार की सूची से पाठकों को निम्न बातों की जानकारी आसानी से हो सकेगी :

१. किस लेखक की कौन-कौन सी रचना किस अंक में प्रकाशित हुई है ?

२. किस-किस शीर्षक की रचनाएं प्रकाशित हुई हैं और उनके लेखक कौन हैं ?

३. किस विषय पर किस लेखक की कौन सी रचना प्रकाशित हुई है ?

४. किस-किस विषय पर रचनाएं प्रकाशित हुई हैं ?

५. किस-किस विषय पर कौन-कौन सी रचनाएं प्रकाशित हुई हैं ?

६. उपरोक्त सभी प्रश्नों के उत्तर के साथ ही यह भी पता चलेगा कि ये रचनाएं किस-किस अङ्क में हैं ?

यदि **हिन्दुस्तानी एकेडेमी** और **नागरीप्रचारिणी सभा** इस स्थिति में नहीं हैं कि अपनी-अपनी पत्रिकाओं के लिए यह कार्य प्रारम्भ करा सकें तो **हिन्दी साहित्य सम्मेलन** ही यह कार्य करवाए. इस वर्ष **सम्मेलन** का **अमृत जयन्ती महोत्सव** मनाया जा रहा है. **अमृत जयन्ती महोत्सव** को सफल बनाने के लिए कई स्थायी-अस्थायी महत्व के कार्यक्रमों का आयोजन किया जा रहा है जिन पर लाखों रु० व्यय करने की योजना है. यदि **सम्मेलन** उसका कुछ अंश इस कार्य के लिए भी निकाल सके तो हमारा खयाल है कि इससे हिन्दी जगत के एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति होगी. हिन्दी साहित्य के इतिहास में तो वह देन स्थायी महत्व की होगी ही प्रारम्भ में केवल **सम्मेलन पत्रिका** से शुरू कर क्रमश: अन्य पत्रिकाओं को भी इस वृहद् कार्य में शामिल किया जा सकता है और बाद में मासिक, त्रैमासिक या अर्द्ध वार्षिक रूप में सम-सामयिक पत्रिकाओं की विषय-सूची का प्रकाशन भी नियमित रूप से किया जा सकता है. इस क्षेत्र में कार्य करने की अनेक सम्भावनाएं हैं, प्रारंभ में कार्य शुरू करने भर की आवश्यकता है.

यदि **सम्मेलन** या अन्य संस्थाएं या कोई व्यावसायिक प्रकाशक यह कार्य न करना चाहे तो विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों द्वारा भी यह कार्य किया जा सकता है. प्रयोग के लिए विविध विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग आपसी सहयोग से सहकारिता के रूप में कुछ चुनी हुई साहित्यिक पत्रिकाओं की सूची तैयार कर सकते हैं जो प्रारंभ में केवल विश्वविद्यालय परिसर के उपयोग के लिए हों. प्रयास सफल होने पर कोई भी प्रकाशक ऐसी सूचियां प्रकाशित करने के लिए तैयार हो जाएगा. इन सूचियों को तैयार करने और प्रकाशित करने में यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रकाशन नियमित हो, विषय-शीर्षक व्यावहारिक हों, उनमें एकरूपता हो तथा सूची में साहित्य के सभी अंगों का समावेश हो. इसके साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्रूफ की अशुद्धियाँ न रहने पाएं. यदि प्रूफ की दो-चार अशुद्धियां भी रह गईं तो विषय-सूची की उपयोगिता ही समाप्त हो जाएगी और पाठकों को वही सब करना होगा जिन्हें न करने के लिए ही ये सूचियां तैयार की जाती है.

विषय-सूची की माँग

प्रश्न हो सकता है कि यह विषय-सूची प्रकाशित होने पर इसे कौन खरीदेगा. इसका सीधा-सा उत्तर यही है कि जिन लोगों के पास इन

पत्रिकाओं की फाइलें हैं तथा जो उनका उपयोग करते हैं, और जिन पुस्तकालयों में ये पत्रिकाएँ उपलब्ध हैं, वे सभी यह विषय-सूची लेना चाहेंगे. इसके अतिरिक्त सभी विश्वविद्यालयों एवं विद्यालयों (कालेजों) के हिन्दी विभाग (या उनके पुस्तकालय) जहाँ स्नातकोत्तर अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था है, यह विषय-सूची लेना चाहेंगे. जिन पुस्तकालयों में इन पत्रिकाओं के अंक प्राप्य नहीं हैं, वे भी यह विषय-सूची अपने संदर्भ-संग्रह में ऐसे पाठकों के लिए रखना चाहेंगे जो यह जानना चाहते हैं कि इन पत्रिकाओं में किसी विषय पर कब-कब, क्या-क्या और किसका लिखा हुआ प्रकाशित हुआ है ? विषय-सूची के उपयोग की संभावनाएं बहुत व्यापक हैं और हमें आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि विषय-सूची का यह कार्य हिन्दी जगत की एक बहुत बड़ी कमी की पूर्ति करेगा.

सार-संक्षेप

पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित सामग्री की विषय-सूची मात्र से सभी समस्याएँ हल हो जाएंगी, ऐसा नहीं सोचना चाहिए. पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों के शीर्षक मात्र जान लेने से पाठकों को यह तो पता नहीं चलेगा कि उनमें क्या लिखा गया है ? हो सकता है कि कोई पाठक लेख का शीर्षक और पत्रिका के विषय में जानकारी प्राप्त कर किसी प्रकार पत्रिका का वह अंक-विशेष प्राप्त कर ले पर लेख पढ़ने के बाद उसे पता चले कि उस लेख में उसके लिए कोई उपयोगी सूचना या सामग्री नहीं है. पाठकों को ऐसी स्थिति से बचाने के लिए महत्वपूर्ण लेखों के **सार-संक्षेप** (Abstracts) त्रैमासिक या अर्द्ध-वार्षिक पत्रिका के रूप में प्रकाशित किये जा सकते हैं. प्रयोग के रूप में आरंभ में ऐसा किया जा सकता है कि कोई एक पत्रिका एक ऐसा स्तम्भ शुरू करे जिसमें अन्य पत्रिकाओं में प्रकाशित हिन्दी भाषा और साहित्य सम्बन्धी महत्वपूर्ण लेखों के सार-संक्षेप हों । इस कार्य के लिए विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग के छात्रों से भी सहायता ली जा सकती है. वे लेख आदि के लिए पत्र-पत्रिकाओं को केवल देखें ही नहीं, वरन उपयोगी एवं महत्वपूर्ण लेखों के संक्षेप भी तैयार करें. इससे छात्रों को सम्बन्धित साहित्य की जानकारी ही नहीं होगी, उन्हें इस बात का भी ज्ञान होगा कि **सार-संक्षेप** किस प्रकार लिखे जाते हैं. विषय-सूची और सार-संक्षेप एक दूसरे के पूरक हैं, विकल्प नहीं और इन्हें अलग नहीं किया जा सकता है.

● ●

हिन्दी संदर्भ पुस्तकालय : एक सुझाव

राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी के महत्व एवं राष्ट्र संघ में मान्य भाषाओं में हिन्दी को भी स्थान दिलाने के सम्बन्ध में अब तक बहुत कुछ लिखा-पढ़ा जा चुका है. हिन्दी के सार्वजनिक प्रयोग के सम्बन्ध में आंदोलन हुए हैं और हिन्दी-प्रेमी इस बात पर चिन्तित हैं कि हिन्दी राष्ट्रभाषा तो मान ली गई है पर सरकार ने हिन्दी के लिए अभी तक कुछ भी नहीं किया है. वस्तुतः इन सब विषयों पर अब तक इतनी अधिक चर्चा हो चुकी है कि उसे दुहराना न तो आवश्यक है और न यह हमारा उद्देश्य ही है.

यहां हम एक ऐसी समस्या पर विचार करेंगे जिस पर, जहाँ तक हमारी जानकारी है, आज तक न तो कभी कुछ लिखा गया है, न चर्चा हुई है और यदि हम गलत नहीं हैं तो अधिकांश लोगों को इस विषय में कुछ ज्ञात भी नहीं है. पर यह एक ऐसा विषय है जिस पर आज नहीं तो कल हमें ध्यान देना ही पड़ेगा. वस्तुतः विलम्ब तो अभी ही हो चुका है. इस विषय पर तो हमें उसी समय ध्यान देना था जब हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में मान्य हुई थी. पर तब से अब तक हम हिन्दी-प्रेमी हिन्दी-प्रेम का नारा तो लगाते रहे परन्तु हिन्दी की नींव सुदृढ़ करने के लिए वास्तव में जो कुछ करना चाहिए था, उस ओर से मुख्यतः उदासीन ही रहे.

अभी कुछ वर्ष पूर्व **हिन्दी साहित्य सम्मेलन**, इलाहाबाद के मंच से **हिन्दी विश्वविद्यालय** की स्थापना की घोषणा की गई थी. उस समय भी इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया गया कि किसी भी शिक्षण संस्था की सही नींव केवल मिट्टी की ईंटों से नहीं वरन वहाँ के पुस्तकालय, पुस्तकालय में प्राप्य सामग्री एवं उस सामग्री का समुचित उपयोग हो सके, उसके लिए उपलब्ध साधनों से ही पड़ती है.

अब तक हिन्दी में लाखों पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और प्रति वर्ष प्रकाशित होने वाली पुस्तकों की संख्या भी हजारों में है. पिछले दो दशकों में प्रकाशित हिन्दी पुस्तकों को देखने से पता चलता है कि हिन्दी प्रकाशनों के विषय-वैविध्य में बहुत विस्तार हुआ है और आज स्थिति यह है कि प्रायः प्रत्येक विषय से सम्बन्धित कोई-न-कोई पुस्तक हिन्दी में उपलब्ध है. अभी हम इन प्रकाशित पुस्तकों के स्तर की बात नहीं कर रहे हैं. इस विषय की बात तो आगे आएगी. अभी तो हम केवल यह बतलाना चाहते हैं कि हिन्दी में अब प्रायः सभी विषयों की पुस्तकें उपलब्ध हैं और जिन विषयों पर अभी पुस्तकें नहीं हैं, उन विषयों पर पुस्तकें तैयार करने के लिए केन्द्र एवं राज्य सरकारें लेखकों को तरह-तरह से प्रोत्साहित कर रही हैं. आए दिन समाचार पत्रों में प्रकाशित तरह-तरह के पुरस्कारों के विज्ञापन हमारे इस कथन की पुष्टि करते हैं.

यही बात हिन्दी में प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं के विषय में कही जा सकती है. आज हिन्दी में इतनी अधिक पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित होने लगी हैं (और उनमें भी अलग-अलग विषयों की अलग-अलग पत्रिकाओं की संख्या पर्याप्त है) कि आज से कुछ वर्ष पूर्व इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी. इतना ही नहीं, यह भी देखा जा रहा है कि प्रायः प्रत्येक चार-छः माह में किसी नए दैनिक या साप्ताहिक पत्र या पाक्षिक-मासिक पत्रिका के प्रकाशन की सूचना भी मिलती रहती है. इसका अर्थ यह हुआ कि हिन्दी पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं की पाठकों में मांग है और अब लोग हिन्दी की पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएं खरीदने और खरीदकर पढ़ने लगे हैं.

हिन्दी में इतनी अधिक पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन निश्चय ही हम सब के लिए बहुत ही गर्व की बात है. लेकिन पुस्तकों का प्रकाशन हो जाना एक बात है और सही समय पर सही पुस्तक सही पाठक तक पहुँचाना या उसके सम्बन्ध में पाठकों को सही-सही जानकारी देना एक अलग बात है.

इसके लिए हमें पुस्तकालयों की सहायता लेनी पड़ती है. कलकत्ता स्थित राष्ट्रीय पुस्तकालय को यदि हम छोड़ दें तो आज पूरे देश में कहीं भी एक भी ऐसा पुस्तकालय या ऐसी कोई संस्था नहीं है जहां किसी को हिन्दी के सम्बन्ध में कुछ सूचनाएं मिल सकें. यहां हम हिन्दी शब्द का प्रयोग बहुत ही व्यापक अर्थ में कर रहे हैं. अर्थात् यहां हमारा

तात्पर्य केवल हिन्दी भाषा और साहित्य ही नहीं, वरन हिन्दी सम्बन्धी प्रत्येक विषय से है. कुछ उदाहरण देकर हम अपनी बात स्पष्ट करना चाहेंगे :

१. 'स्क्रूटिनी' के सम्बन्ध में हिन्दी में अब तक क्या लिखा गया है ?

२. मारीशस से हिन्दी की कौन-कौन सी पत्र-पत्रिकाएं निकलती हैं ?

३. भारत से बाहर किन देशों में हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था है ?

४. हिन्दी लिप्यंतरण की कौन-कौन सी विधियाँ उपलब्ध हैं ?

५. प्रो० आलचिन का पता क्या है ?

६. ओदोलेन स्मेकल ने हिन्दी में कौन-कौन सी पुस्तकें लिखी हैं या हिन्दी में उनकी कौन सी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं ?

ये या इसी प्रकार का कोई भी प्रश्न कोई भी हिन्दी-प्रेमी कभी भी कर सकता है या किसी अहिन्दीभाषी व्यक्ति के मन में इस प्रकार की जिज्ञासा हो सकती है. लेकिन इन या इस प्रकार के प्रश्नों के सम्बन्ध में एक सबसे बड़ा प्रश्न यह उठता है कि इनका उत्तर किससे पूछा जाए ? इन बातों के उत्तर के लिए किसे लिखा जाए ? यदि हमारा अनुमान सही है तो शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा जो इन प्रश्नों के उत्तर तुरन्त दे सके या जिसे ज्ञात हो कि इन प्रश्नों का उत्तर कहाँ से मिल सकता है. यदि हिन्दी के कार्य से सम्बन्धित किसी संस्था को पत्र लिखकर इन बातों का उत्तर पूछा जाए तो सम्भावना यही है कि इन प्रश्नों का उत्तर मिलना तो बहुत दूर, पत्र भेजने वाले को पत्र प्राप्ति की सूचना भी नहीं मिलेगी. और यदि आप **हिन्दी साहित्य सम्मेलन** या **नागरीप्रचारिणी सभा** के पुस्तकालयों में वहां के कर्म-चारियों से इन प्रश्नों का उत्तर पाने की अपेक्षा रखते हैं तो हमारे खयाल से यह आपकी बहुत बड़ी भूल होगी. पर इसके लिए हम इन पुस्तकालयों के कर्मचारियों को दोष नहीं देते. दोष तो हमारी वर्षों से चली आ रही उस धारणा का है जिससे हम केवल यह जानते हैं कि पुस्तकालय वह स्थान है जहां केवल घर ले जाने के लिए पुस्तकें मिलती हैं.

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद का पुस्तकालय देश में हिन्दी पुस्तकों का सबसे बड़ा पुस्तकालय कहा या माना जाता है. हिन्दी पुस्तकों एवं हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की जितनी पुरानी फाइलें यहां हैं, उतनी संभवतः अन्यत्र उपलब्ध नहीं (कलकत्ता के **राष्ट्रीय पुस्तकालय** को छोड़कर). पर वस्तुस्थिति यह है कि देश का सबसे बड़ा हिन्दी पुस्तकालय होने के बावजूद यहां हिन्दी भाषा और साहित्य से सम्बन्धित बहुत-सी ऐसी सामग्री नहीं है जिसका किसी भी प्रतिनिधि हिन्दी पुस्तकालय में होना बहुत आवश्यक है. और जो सामग्री यहां उपलब्ध है, उसका समुचित उपयोग इस कारण नहीं हो पा रहा है कि यहां न तो पुस्तकों का वर्गीकृत सूचीपत्र है, न पत्र-पत्रिकाओं की विषय-सूची है और न किसी प्रकार की ऐसी 'हिन्दी सूची' है जिससे हिन्दी भाषा और साहित्य सम्बन्धी किसी भी विषय की सूचना आसानी से प्राप्त हो सके.

जब कोई पुस्तकालय किसी विषय-विशेष से सम्बन्धित होता है तो उसे अपने संग्रह के सम्बन्ध में एक नीति निर्धारित करनी होती है. इसी नीति के अनुसार संग्रह की वृद्धि एवं विकास होता है यदि हमारा अनुमान सही है तो पुस्तकालय के सम्बन्ध में **हिन्दी साहित्य सम्मेलन** की नीति हिन्दी पुस्तकें एकत्र करने की है. पर जितनी सहजता से हमने 'हिन्दी पुस्तकें एकत्र करने' की बात कह दी है, वास्तव में बात उतनी आसान नहीं है, क्योंकि हिन्दी पुस्तकें एकत्र करने वाले किसी भी छोटे-बड़े पुस्तकालय के समक्ष वस्तुतः कई विकल्प आते हैं । उनमें से कुछ ये हैं :

१. हिन्दी में प्रकाशित किसी भी विषय से सम्बन्धित चुनी हुई पुस्तकें एकत्र करना.

२. भारत में प्रकाशित किसी भी विषय से सम्बन्धित हिन्दी पुस्तकें एकत्र करना.

३. किसी भी विषय से सम्बन्धित कहीं भी प्रकाशित सभी प्रकार की हिन्दी पुस्तकें एकत्र करना.

यहां यदि हम हिन्दी शब्द को केवल 'हिन्दी भाषा और साहित्य' तक ही सीमित रखें, तो भी कई विकल्प आते हैं. उनमें से कुछ ये हैं :

४. केवल हिन्दी भाषा में प्रकाशित (उपलब्ध) हिन्दी भाषा और साहित्य सम्बन्धी पुस्तकें एकत्र करना.

५. किसी भी भाषा में प्रकाशित (उपलब्ध) हिन्दी भाषा और साहित्य सम्बन्धी पुस्तकें एकत्र करना.

६. हिन्दी भाषा और साहित्य सम्बन्धी सभी प्रकार की सामग्री (पुस्तकें एवं अन्य सामग्री यथा माइक्रो-फिल्म, स्लाइड्स, टेप आदि) एकत्र करना.

जहाँ तक हमारा खयाल है, **सम्मेलन** के पुस्तकालय के सम्बन्ध में वर्तमान में इनमें से एक भी विकल्प पूर्णतः लागू नहीं होता. क्योंकि पुस्तकालय में संग्रहीत सामग्री देखकर कोई भी व्यक्ति यह समझ ही नहीं सकता कि पुस्तकालय की सही नीति क्या है? पुस्तकालय में पुस्तकों के संग्रह के सम्बन्ध में अधिकारियों की नीति अब तक चाहे जो रही हो (और इसके लिए, निश्चय ही उनके अपने कारण रहे होंगे तथा इसके लिए उन्हें दोष भी नहीं दिया जा सकता) पर अब जब कि **सम्मेलन** ने **हिन्दी विश्वविद्यालय** की स्थापना की घोषणा कर दी है (और हमारा खयाल है कि इस सम्बन्ध में कार्य भी आरंभ हो चुका है) तो हम समझते हैं कि हिंदी संदर्भ पुस्तकालय की दिशा में वर्तमान पुस्तकालय या संग्रहालय के विस्तार के लिए अब तक चली आ रही नीति में परिवर्तन की आवश्यकता है. पुस्तकालय का विस्तार कुछ इस ढंग से किया जाना चाहिए कि वहाँ हिन्दी भाषा और साहित्य सम्बन्धी सभी प्रकार की सामग्री उपलब्ध हो सके यदि यह संभव न हो तो कम-से-कम इतना तो किया ही जा सके कि हिन्दी भाषा और साहित्य सम्बन्धी किसी भी विषय में रुचि रखने वाले लोगों को तत्सम्बन्धी सूचनाएँ आसानी से प्राप्त हो सकें.

एक उदाहरण देकर हम अपनी यह बात स्पष्ट करना चाहेंगे. अहिन्दी भाषी लोगों को हिन्दी सिखाने के लिए देश-विदेश में इस समय कई प्रकार की सामग्री उपलब्ध है. **हिन्दी विश्वविद्यालय** में भी निश्चय ही कोई ऐसा विभाग खुलेगा जहाँ अहिन्दी भाषियों को हिन्दी सिखाने के सम्बन्ध में विद्यार्थियों को प्रशिक्षित किया जाएगा. यदि कोई **सम्मेलन** के पुस्तकालय में आकर वहाँ कर्मचारियों से पूछे कि इस समय इंग्लैंड या अमेरिका के विश्वविद्यालयों में या अफ्रीका के किस विश्वविद्यालय में हिन्दी अध्यापन की व्यवस्था है तो हमारा खयाल है कि कोई भी इन प्रश्नों का सही-सही उत्तर नहीं दे पाएगा. एक और उदाहरण लीजिये. अंग्रेजी भाषा के माध्यम से हिन्दी सीखने के लिए क्या कोई ग्रामोफोन रिकार्ड या कैसेट किसी संस्था ने तैयार किया है ?

यदि हां, तो वह कहाँ से मिल सकेगा? किस-किस भाषा से हिन्दी सीखने के लिए इस प्रकार के कैसेट तैयार किये गये हैं? हमारे खयाल से इस प्रश्न का उत्तर भी शायद ही मिले. हो सकता है कि अभी इस प्रकार की कुछ सूचनाएं यहां उपलब्ध हों. पर हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि पुस्तकालय का रूप कुछ ऐसा होना चाहिए कि वह केवल पुस्तकालय न रहकर सही माने में हिन्दी का एकमात्र और सबसे बड़ा संदर्भ पुस्तकालय बने. **हिन्दी विश्वविद्यालय** की बात अभी हम न भी करें तो भी हिन्दी के सबसे बड़े पुस्तकालय में इस प्रकार की सूचनाएं मिलने की व्यवस्था तो होनी ही चाहिए. **सम्मेलन** के पुस्तकालय के सम्बन्ध में हमारा आदर्श यही है कि यहां पर हिन्दी भाषा में प्रकाशित सभी विषयों की सभी पुस्तकें भले ही न हों, पर हिन्दी भाषा और साहित्य से सम्बन्धित सभी विषयों पर सभी प्रकार की सामग्री अवश्य होनी चाहिए, भले ही वह किसी भी भाषा में और किसी भी देश में प्रकाशित क्यों न हुई हों. और जब हम सभी प्रकार की सामग्री की बात करते हैं तो पुस्तकालय का कार्य-क्षेत्र केवल पुस्तकों मात्र का संग्रह न रहकर शिक्षा-क्षेत्र में उपयोगी सभी आधुनिक साधनों, यथा माइक्रोफिल्म, माइक्रोफिश, फिल्मस्ट्रिप, पारदर्शियां, चार्ट, रोल्स, टेप, वीडिओ कैसेट तथा इनके उपयोग के लिए रीडर, प्रोजेक्टर, टेपरिकार्डर, वीडिओ रिकार्डर, रिकार्ड प्लेयर आदि सभी उपकरणों को अपने में समेट लेता है.

मुद्रित सामग्री के क्षेत्र में भी हमारा कार्य केवल आलोचना, उपन्यास, कविता, नाटक आदि विषयों से सम्बन्धित पुस्तकें संग्रह करने तक ही सीमित नहीं रहेगा. सही माने में एक आदर्श संदर्भ पुस्तकालय के लिए हमें वहाँ प्रत्येक ऐसी पुस्तक भी लानी पड़ेगी जिसमें हिन्दी भाषा और साहित्य सम्बन्धी कुछ भी सूचना मिल सके. संदर्भ पुस्तकालय का अर्थ ही होता है सूचना केन्द्र और यदि संदर्भ पुस्तकालय किसी विषय विशेष से सम्बन्धित है तो वह उस विषय का ऐसा सूचना केन्द्र बन जाता है जहाँ से लोग आशा रखते हैं कि उन्हें उस विषय से सम्बन्धित सभी प्रकार की सूचना मिल जाएगी. यह सूचना इच्छुक व्यक्तियों को पुस्तकालय में स्वयं आने पर तो मिलेगी ही, पर यदि किसी व्यक्ति के लिए पुस्तकालय में आना सम्भव न हो तो टेलीफोन और डाक द्वारा भी उसे अपेक्षित सूचना मिल सकेगी.

हिन्दी संदर्भ पुस्तकालय का यह स्वरूप यदि स्वीकृत कर लिया जाता है तो कहने की आवश्यकता नहीं कि संदर्भ पुस्तकालय की सेवाएँ

उसके पाठकों तक ही सीमित नहीं रहेंगी. पुस्तकालय में प्राप्य सामग्री का उपयोग केवल इलाहाबाद या आसपास के क्षेत्रों में रहने वाले लोगों तक ही सीमित न रहे तथा संदर्भ पुस्तकालय सही अर्थों में हिंदी का संदर्भ पुस्तकालय बनकर हिन्दी के लिए कुछ स्थायी महत्व का कार्य कर सके, इस दृष्टि से आवश्यक होगा कि पुस्तकालय द्वारा ऐसी निदेशिकाएँ (डायरेक्टरी), वार्षिकी, ग्रन्थ-सूची, पत्र-पत्रिकाओं की विषय-सूची, आदि संदर्भ ग्रन्थ तैयार कर प्रकाशित किये जाएं जो देश-विदेश के पुस्तकालय, विद्यालयों-विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग, हिन्दी-प्रेमी तथा हिन्दी से सम्बन्धित संस्थाओं और ऐसे अन्य सभी कार्यालयों के लिए उपयोगी हों जहाँ हिन्दी सम्बन्धी कुछ भी कार्य होता है. यदि ये ग्रंथ पुस्तकालय विज्ञान में प्रशिक्षित एवं अनुभवी लोगों द्वारा या उनके निदेशन में तैयार किये गये तो हम देखेंगे कि सभी जगह इनकी मांग ही नहीं बढ़ेगी वरन ये हिन्दी की सेवा में स्थायी महत्व की वस्तु बन जाएँगे.

जहाँ तक इन ग्रंथों को तैयार करने और उनके प्रकाशन में होने वाले व्यय का प्रश्न है, प्रारंभ में निश्चय ही इसके लिए खुले दिल से कार्य करना होगा. पर कालान्तर में ज्यों-ज्यों लोग इन प्रकाशनों की उपयोगिता से परिचित होंगे, इन ग्रंथों की माँग इस कदर बढ़ेगी कि इनकी बिक्री से सन्दर्भ पुस्तकालय का पूरा व्यय ही नहीं निकल आएगा वरन पुस्तकालय और भी कई उपयोगी योजनाएं प्रारंभ कर सकेगा.

हिन्दी साहित्य सम्मेलन इस वर्ष अपना अमृत महोत्सव मना रहा है. इस अवसर पर आयोजित तरह-तरह की गोष्ठियों और अन्य कार्यक्रमों पर लाखों रु० व्यय होने का अनुमान है. हमारा सुझाव है कि सम्मेलन के पदाधिकारी **हिन्दी संदर्भ पुस्तकालय** की इस योजना पर भी गंभीरतापूर्वक विचार कर इसे कार्य रूप में परिणत करें. यह एक ऐसा स्थान होगा जहाँ सभी—पाठक, अध्यापक, छात्र, लेखक, प्रकाशक, विद्वान, शोधार्थी तथा विविध हिन्दी संस्थानों में कार्य करने वाले कर्मचारी, आदि—को किसी न किसी रूप में सहायता मिलेगी और जब संदर्भ पुस्तकालय द्वारा प्रदत्त विविध सेवाओं तथा यहाँ किये जाने वाले कार्यों का उन्हें पता चलेगा तो हिन्दी सम्बन्धी किसी भी कार्य के लिए, किसी भी सूचना के लिए वे सबसे पहले हिन्दी संदर्भ पुस्तकालय से ही संपर्क करेंगे ? क्या यह सम्मेलन के लिए गौरव की बात नहीं होगी ?

● ●

हिन्दी प्रकाशन : सम्पादकीय दायित्व

देश-विदेश में आज हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए जो कुछ किया जा रहा है, हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन में पिछले वीस वर्षों में जो वैविध्य आया है, हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन की ओर विदेशों में जिस प्रकार रुचि दिखाई दे रही है और राष्ट्र संघ की मान्य भाषाओं में हिन्दी को भी शामिल कराने के लिए जो प्रयत्न हो रहे हैं, उसे देखते हुए किसी भी हिन्दी प्रेमी का यह सोचना स्वाभाविक है कि हिन्दी लेखन एवं प्रकाशन के क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रगति हुई होगी. पर यह निराशाजनक है कि इस ओर से प्रकाशक तो पूर्णतः उदासीन हैं ही, लेखक भी अपनी जिम्मेदारी को नहीं समझते. इस कारण हिन्दी पुस्तकों में आए दिन जिस प्रकार की त्रुटियां देखने में आ रही हैं, वे चिन्तनीय हैं। विदेशों में रहने वाले हिन्दी जानने वाले भारतीय और अभारतीय पाठकों पर इसका जो प्रभाव पड़ता है, उससे विदेशों में हिन्दी की छवि धूमिल होती है. आश्चर्य तो तव होता है जव हिन्दो के गणमान्य साहित्यकार एवं पिछले तीन-चार दशकों से लगातार लिखते आ रहे प्रतिष्ठित लेखकों की पुस्तकों में भो इस प्रकार की त्रुटियां देखने को मिलती हैं.

इस सम्बन्ध में पिछले तीन-चार बर्षों में हमने विदेश से हिन्दी के लगभग एक दर्जन लेखकों को उनकी कृतियों में इस प्रकार की त्रुटियों की ओर ध्यान दिलाते हुए पत्र लिखे, पर अधिकांश ने उन पत्रों का उत्तर देना उचित नहों समझा. एक ने इन्हें प्रूफ की गलतियां वतलाकर छुट्टी पा ली और केवल एक ने ईमानदारी से हमारे पत्र की भावना को समझते हुए पुस्तक के अगले संस्करण में उन बातों की ओर ध्यान देने का आश्वासन दिया. जहाँ तक प्रूफ की त्रुटियों का सवाल है, हिन्दी की शायद ही कोई ऐसी पुस्तक देखने को मिले जिसमें ये त्रुटियां न हों. इसके लिए लेखकों को दोष नहीं दिया जा

सकता. पर भाषा, वाक्य-विन्यास, तथ्य, आदि की त्रुटियों को प्रूफ की त्रुटियां कैसे मान लिया जाए ? इन्हें प्रूफ की त्रुटियां तो तब कहा जा सकता है जब केवल एक ही जगह या एक ही संस्करण में वह गलती हो. पर जब हम देखते हैं कि एक के बाद एक कई संस्करणों में वही गलती बार-बार दुहराई जाती है, या एक ही संस्करण में वही गलती कई स्थानों पर देखने को मिलती है, तो उन्हें प्रूफ की त्रुटियां नहीं माना जा सकता. जिस प्रकार शुतुरमुर्ग बालू में सिर छिपाकर यह सोच लेता है कि चूंकि वह किसी को नहीं देख रहा है अतः अन्य लोग भी उसे नहीं देख रहे होंगे, उसी प्रकार संभवतः लेखक-प्रकाशक भी सोचते हैं कि यदि हम इन बातों की ओर ध्यान नहीं देते तो पाठक भी नहीं देंगे. पर हिन्दी पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं के पाठक अब पहले की अपेक्षा अधिक जागरूक हो गए हैं और वे इन बातों की ओर ध्यान देने लगे हैं. अतः क्या यह संभव नहीं कि प्रकाशक के पास जब कोई पांडुलिपि प्रकाशन के लिए विचारार्थ आती है, उस समय लेखक का ध्यान पांडुलिपि में पाई गई त्रुटियों की ओर दिलाकर उन्हें प्रकाशन से पूर्व ठीक कर लिया जाए. इसी प्रकार यदि लेखक देखता है कि मुद्रण के समय प्रकाशक की ओर से कोई लापरवाही दिखाई जा रही है या उस समय पांडुलिपि में कोई त्रुटि नजर आई है तो प्रकाशक से कहकर उसमें संशोधन कर दिया जाए.

केवल हिन्दी पुस्तकों में ही नहीं, प्रतिष्ठित, स्थापित एवं सम्पन्न कहे जाने वाले प्रकाशकों की पत्रिकाओं में भी कभी-कभी ऐसी त्रुटियां रहती हैं कि उन्हें देखकर सम्पादकों के ज्ञान पर प्रश्न चिन्ह उभरने लगते हैं. हम यह मानकर नहीं चलते कि सम्पादकों को सर्वज्ञ होना चाहिए, पर क्या उनसे इतनी अपेक्षा भी न की जाए कि आवश्यकता पड़ने पर वे किसी भी विषय की जानकारी प्राप्त कर सकें. उन्हें इतना ज्ञान तो अवश्य होना चाहिए कि किस विषय की सूचना किस ग्रन्थ से मिलेगी या उसके लिए किन सूत्रों से सम्पर्क करना चाहिए.

दिनमान (१०-१६ फरवरी १९८५) का एक वाक्य है :

> **उस वर्ष साइबेरिया नामक एक अफ्रीकी राष्ट्र ने अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष में ७ विशेष डाक टिकट निकाले.** (पृष्ठ ७)

भूगोल का थोड़ा-सा भी ज्ञान रखने वाले चौथी क्लास के एक सामान्य बच्चे से भी पूछा जाए तो वह बतला देगा कि साइबेरिया अफ्रीका

में नहीं वरन् रूस का एक प्रदेश है. फिर **दिनमान** के सम्पादकों से यह भूल कैसे हो गई, समझ में नहीं आता.

दिनमान के इसी अंक में पृष्ठ ३ पर १० पंक्तियों में **सुप्रसिद्ध अभिनेत्री शबाना आजमी** का परिचय इसी अंक में प्रकाशित एक साक्षात्कार के सम्बन्ध में दिया हुआ है. फिर उसी परिचय के नीचे आवरण पृष्ठ पर छपे हुए चित्र का परिचय इस प्रकार दिया हुआ है :

> **फिल्म अभिनेत्री : शबाना आजमी**

क्या यहाँ **फिल्म अभिनेत्री** लिखना आवश्यक था जब कि उसके ऊपर दिये गये परिचय में **सुप्रसिद्ध अभिनेत्री** पहले ही लिखा जा चुका है ?

आवारा मसीहा (विष्णु प्रभाकर/राजपाल/चौथा संस्करण, १६७६) का एक उदाहरण देखिये :

> **जब उन्होंने [दिलीप कुमार राय] सुना कि शरत बाबू [रंगून से] कलकत्ता आ रहे हैं तो उनकी प्रसन्नता का पार नहीं था. रात को नींद भी नहीं आती थी. सोचते थे, कब आयेंगे सात समुद्र और तेरह नदी पार से वे अपरूप गल्प गंधर्व.** (पृष्ठ १७८)

क्या रंगून से कलकत्ता आना वास्तव में 'सात समुद्र तेरह नदी पार' करना होता है ? यदि हाँ, तो रंगून या कलकत्ता से लंदन या न्यूयार्क जाने के लिए न जाने कितने समुद्र और नदियाँ पार करनी होंगी ? आप कह सकते हैं कि बोल-चाल की भाषा में ऐसा कहा जाता है. ठीक है, पर यहाँ तो बोल-चाल की भाषा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता. यहाँ तो लिखित भाषा है और लेखक की अपनी कल्पना का विवरण है न कि किसी पात्र के मुँह से निकला कोई कथन.

इसी पुस्तक का एक और उदाहरण देखिये :

> **"पथेर दावी" उनके अपने राजनीतिक विश्वास का प्रतीक है, अपने आवारा जीवन में उन्होंने अनेक देशों की जो यात्रा की थी, उसका अनुभव ही मानों उसमें संचित हुआ है.** (पृष्ठ २२७)

क्या शरत बाबू ने अपने आवारा जीवन में वास्तव में अनेक देशों की यात्रा की थी ? यदि हाँ तो इस पुस्तक में उसका कहीं जिक्र नहीं है.

एक-दो देशों की यात्रा का उल्लेख अवश्य है पर इसे 'अनेक' देशों की यात्रा तो नहीं कहा जा सकता.

विदेशी लेखकों के नामों एवं उनकी कृतियों का बार-बार गलत-सही और कभी-कभी अकारण ही उल्लेख करने की प्रवृत्ति अब हिन्दी लेखकों में इतनी अधिक बढ़ गई जान पड़ती है कि इससे कुछ प्रतिष्ठित लेखक भी नही बच सके हैं. वे शायद ऐसा समझते हैं कि जब तक वे अपनी रचनाओं में किसी विदेशी लेखक या उसकी कृति का हवाला नहीं देंगे (भले ही वह गलत क्यों न हो) तब तक न तो प्रकाशक-सम्पादक ही उनकी रचना प्रकाशित करने को तैयार होंगे और न पाठकों पर ही उनकी प्रतिभा की धाक जमेगी

सारिका ने **ग्राहम ग्रीन** और **ओ. हेनरी** की कई कहानियां प्रकाशित की हैं पर इन लेखकों के सम्बन्ध में वह एक ही गलती अक्सर दुहराती आ रही है. **सारिका** में **ओ. हेनरी** को 'अंग्रेजी कथाकार' और **ग्राहम ग्रीन** को 'अमेरिकी कथाकार' बताया जाता है जब कि वस्तुस्थिति इसके विपरीत है. लगभग दो वर्ष पूर्व हमने **सारिका** के सम्पादक को लिखे गये एक पत्र में इस तथ्य की ओर उनका ध्यान दिलाया था, पर जान पड़ता है कि उस पर किसी का ध्यान नहीं गया क्योंकि जुलाई १९८५ के प्रथम अंक में **ओ. हेनरी** को फिर 'अंग्रेजी कथाकार' बतलाया गया है.

इस सम्बन्ध में एक बात यह भी विचारणीय है कि इंग्लैंड में रहने वाले और अंग्रेजी भाषा में लिखने वाले किसी लेखक को 'अंग्रेजी लेखक' कहा जाए या 'अंग्रेज लेखक'? सामान्यतः हिन्दी में जब 'अंग्रेजी' शब्द का प्रयोग किया जाता है तो उसका आशय अंग्रेजी भाषा से होता है न कि इंग्लैंड या ब्रिटेन से.

विदेशी नामों के सम्बन्ध में इस प्रकार की गलतियां देखकर कभी-कभी संदेह होने लगता है कि क्या कभी लेखक ने उन पुस्तकों या पत्र-पत्रिकाओं को स्वयं देखा भी है या किन्हीं अन्य सूत्रों से प्राप्त सूचना के आधार पर ही उनका उल्लेख कर दिया है. **आवारा मसीहा** में ही देखिये :

> **केवल देश ही नहीं, विदेशों में भी उनकी प्रतिभा की कहानी धीरे-धीरे पहुंच रही थी. लंदन के सुप्रसिद्ध समाचार पत्र 'दि टाइम्स' के लिटरेरी सप्लीमेंट ने इसी**

> **समय उनके दो कहानी संग्रहों 'बिन्दूर छेले' और 'मेज दीदी' की प्रशंसात्मक समीक्षा प्रकाशित की थी.** (पृष्ठ १६३)

इसके साथ कोई संदर्भ यह बतलाने के लिए नहीं दिया गया है कि लंदन के उक्त समाचार पत्र के किस अंक में **बिन्दूर छेले** और **मेज दीदी** की प्रशंसात्मक समीक्षा प्रकाशित हुई थी. अतः यह समझना स्वाभाविक है कि लेखक ने स्वयं ये प्रशंसात्मक समीक्षाएँ नहीं देखी या पढ़ी हैं, वरन किसी अन्य सूत्र से प्राप्त सूचना के आधार पर ही ऐसा लिखा है. पर लेखक ने पूरी पुस्तक में कहीं यह भी तो नहीं बतलाया कि वह सूत्र कौन सा है ? जो कुछ भी हो, यहां मुख्य प्रश्न यह है कि क्या वास्तव में लंदन के सुप्रसिद्ध समाचार पत्र **दि टाइम्स** का कोई 'लिटरेरी सप्लीमेंट' निकलता है या उस समय निकलता था ? जहाँ तक हमें पता है **दि टाइम्स** का कोई 'लिटरेरी सप्लीमेंट' न तो कभी निकलता था और न अभी निकलता है. लंदन से प्रकाशित होने वाले सभी दैनिक समाचार पत्र सप्ताह में केवल छः दिन याने सोमवार से शनिवार तक प्रकाशित होते हैं. रविवार को उनका प्रकाशन नहीं होता. **दि टाइम्स** के शनिवार के अंक में साहित्य सम्बन्धी विशेष लेख और अन्य सामग्री भी दी रहती है तथा बृहस्पतिवार के अंक में समीक्षा या समालोचना पृष्ठ रहता है. रविवार को **सण्डे टाइम्स** नामक एक समाचार पत्र अवश्य निकलता है पर उसका प्रतिदिन निकलने वाले **दि टाइम्स** से कोई सम्बन्ध नहीं है. इसी प्रकार पहले प्रत्येक शुक्रवार को **टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट** नामक एक साप्ताहिक पत्र निकलता था. इसका नाम बदलकर अब संक्षेप में **टी एल एस** हो गया है पर इन पत्रों का **दि टाइम्स** और **सण्डे टाइम्स** से कभी कोई सम्बन्ध न था, न है.

डॉ० नगेन्द्र (मेरे प्रिय निबन्ध/हिन्दी बुक सेण्टर/१६८०) के शब्दों में अपने लेखों में इस प्रकार के उदाहरणों से लेखक शायद पाठकों को चकित करने का प्रयास ही करते हैं :

> **जो लोग अपने लेखों या वक्तव्यों में "टाइम" के साहित्यिक परिशिष्ट या एनकाउण्टर के ताजा अङ्क में प्रकाशित किसी लेख का सही या गलत हवाला देकर पाठक या श्रोता को चकित करने का प्रयास करते हैं उनकी बालबुद्धि पर मुझे हंसी आती है.** (पृष्ठ ३)

लेकिन जैसा कि उक्त उदाहरण से स्पष्ट है, **डॉ० नगेन्द्र** स्वयं अपने इस आक्षेप के शिकार हो गये जान पड़ते हैं. क्योंकि जहाँ तक **टाइम**

के 'साहित्यिक परिशिष्ट' का प्रश्न है, **टाइम** नामक कोई समाचार पत्र नहीं निकलता है. हां, न्यूयार्क (अमेरिका) से **टाइम** नामक एक समाचार साप्ताहिक अवश्य प्रकाशित होता है, पर उसका कोई 'साहित्यिक परिशिष्ट' नहीं निकलता. डॉ० नगेन्द्र के **टाइम** सम्वन्धी इस वक्तव्य के विषय में भी वे सभी प्रश्न उठते हैं जो हमने पहले **आवारा मसीहा** के संदर्भ में उठाये हैं. वैसे भी डॉ० नगेन्द्र ने इस पुस्तक में संकलित अपने निबन्धों में कई विदेशी लेखकों एवं पुस्तकों का उल्लेख इस प्रकार किया है कि पाठक चकित-भ्रमित रह जाता है, यथा :

> इस प्रज्ञात्मक सौन्दर्य को प्लेटो ने प्रकाश-रूप माना
> है जो वस्तुतः आत्म चैतन्य का प्रतीक है. (पृष्ठ १४)

अब यदि पाठक यह जानना चाहे कि प्लेटो ने ऐसा कहाँ कहा है तो उसकी सहायता के लिए डॉ० नगेन्द्र ने एक संदर्भ दिया है :

> गिलबर्ट एंड कून : ए हिस्टरी आफ एस्थेटिक्स.
> (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ ४५-५५, १२६-३०

याने आप प्लेटो का मत जानने के लिए प्लेटो की नहीं किसी अन्य लेखक की पुस्तक देखें, और हिन्दी की केवल दो पंक्तियों का उपरोक्त उद्धरण खोजने के लिए उस अँग्रेजी पुस्तक के १२ पृष्ठ देखें. स्पष्ट है कि लेखक ने स्वयं **गिलबर्ट एण्ड कून** की वह पुस्तक नहीं देखी है और स्वयं उसके शब्दों में पाठक को 'चकित करने' के लिए ही किसी अन्य संदर्भ से यह संदर्भ दे दिया है. पर गनीमत है कि यहाँ लेखक ने पाठक की सुविधा के लिए वह संदर्भ तो दे दिया जहाँ उसे वह उद्धरण मिल जाएगा (भले ही इसके लिए उसे काफी परिश्रम करना पड़े) पर अन्य जगह तो लेखक ने पाठक को मझधार में ही छोड़ दिया है :

> आधुनिक युग में कांट और हीगेल ने प्रायः इन्हीं मूल
> सूत्रों का पल्लवन किया है. (पृष्ठ १५)

यहां लेखक यह बतलाना भूल गया जान पड़ता है कि पाठक को कांट और हीगेल के मत मूल रूप में (या अनुवाद ही सही) कहाँ मिलेंगे ? डॉ० नगेन्द्र की पुस्तक में इस प्रकार के कई उदाहरण हैं जो स्वयं उन्हीं के शब्दों में 'पाठकों को चकित करने का प्रयास' जान पड़ते हैं. एक और उदाहरण देखिये :

> इस भ्रांति का निराकरण करने के लिए मैं आधुनिक आलोचक ए० सी० ब्रैडले के औदात्त सम्बन्धी प्रसिद्ध लेख की ओर इंगित करूंगा. (पृष्ठ ८४)

लेकिन पूरी पुस्तक में कहीं भी न तो ब्रैडले के इस प्रसिद्ध लेख का शीर्षक बतलाया गया है और न यह कि वह कब, कहां प्रकाशित हुआ था. कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी के प्रायः सभी जाने-पहचाने लेखक इस प्रवृत्ति के शिकार हैं जिस पर डॉ० नगेन्द्र ने प्रश्न चिन्ह लगाया है.

अज्ञेय भी इससे बच नहीं सके हैं. **संवत्सर** (नेशनल पब्लिशिंग हाउस/ १९७८) का एक वाक्य देखिये :

> केवल एक ही पुस्तक ध्यान में आती है, इवान बूनिन का संस्मरणात्मक उपन्यास, अंग्रेजी अनुवाद में जिसका नाम था द वेल आफ डेज—दिनों का कुआं. (पृष्ठ १५)

पर पूरी पुस्तक में कहीं यह नहीं बतलाया गया है कि बूनिन किस भाषा का लेखक है (था) या किस भाषा से यह अंग्रेजी अनुवाद हुआ था और कहां से कब प्रकाशित हुआ था ? अब यदि किसी पाठक को **दिनों का कुआँ** पढ़ने की इच्छा जागृत हो उठे तो उसे इसका पता कैसे चलेगा कि यह पुस्तक कहाँ से प्राप्त हो सकती है ? पुस्तक विक्रेता भी तब तक कोई पुस्तक नहीं मंगा सकते जब तक उन्हें प्रकाशक का नाम न मालूम हो.

नामवर सिंह ने **कविता के नये प्रतिमान** (राजकमल/द्वितीय संस्करण, १९७४) में लिखा है :

> अंग्रेजी के मार्क्सवादी आलोचक आर्नल्ड केटल ने भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "अंग्रेजी उपन्यास की भूमिका" में नये समीक्षक डा० एफ०आर० लीविस का ऋण स्वीकार किया है. ऐसा नहीं है कि आर्नल्ड केटल लीविस की प्रतिक्रियावादी सामाजिक दृष्टि से परिचित नहीं थे, किन्तु हिन्दी के अधकचरे मार्क्सवादी अध्येताओं ने सिर्फ इतना ही सुन रखा है कि लीविस केवल प्रतिक्रियावादी रूपवादी समीक्षक हैं. (पृष्ठ ११)

चूँकि लेखक ने **केटल** की पुस्तक के उस पृष्ठ का संदर्भ नहीं दिया है जहाँ **केटल** के उक्त विचार जानने को मिलते हैं, अतः कोई पाठक यदि इस संबंध में विस्तार से और कुछ जानना चाहे तो उसे **केटल** की पुस्तक (जो अंग्रेजी में दो खंडों में है) का एक-एक पृष्ठ शुरू से अंत तक वहुत ही ध्यानपूर्वक एवं गंभीरता से पढ़ना होगा, और उसके बाद भी यदि वह अपने प्रयास में सफल न हो सका तो कोई आश्चर्य की बात नहीं.

उक्त उद्धरण में कुछ और भी बातें हैं जिनकी ओर किसी भी जागरूक पाठक का ध्यान आसानी से जा सकता है. **नामवर सिंह** ने **लीविस** को 'नये समीक्षक' कहा है. **कविता के नये प्रतिमान** का प्रकाशन पहली बार १९६८ में हुआ था और इसका दूसरा संस्करण १९७४ में निकला था. क्या १९६८ या १९७४ में **लीविस** को 'नया' समीक्षक कहा जा सकता है ? चौथे दशक में जब लीविस **स्क्रूटिनी** का सम्पादन कर रहे थे, उसके वहुत पहले ही वे एक समीक्षक के रूप में विख्यात हो चुके थे और अभी कुछ ही वर्ष पूर्व उनकी मृत्यु हुई है. अतः १९६८ या १९७४ में उन्हें नया समीक्षक कहना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं जान पड़ता.

इस सम्बन्ध में दूसरी बात जो हमें खटकती है और जिससे कोई भी पाठक भ्रमित हो सकता है, वह है अंग्रेजी पुस्तक के नाम का हिन्दी अनुवाद. जिस रूप में **आर्नल्ड केटल** की पुस्तक का हवाला दिया गया है, उससे सामान्य पाठक यही समझेगा कि **अंग्रेजी उपन्यास की भूमिका** या तो हिन्दी में प्रकाशित मौलिक पुस्तक है या किसी अंग्रेजी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद. ऐसी स्थिति में पाठक की उलझन तब और भी बढ़ जाती है जब वह देखता है कि **नामवर सिंह** ने पुस्तक के नाम के साथ न तो प्रकाशक का नाम ही दिया है और न प्रकाशन वर्ष.

इसी उद्धरण में एक और बात जिसकी ओर कुछ पाठकों का ध्यान जा सकता है, लेखक द्वारा **आर्नल्ड केटल** के लिए 'थे' शब्द का प्रयोग है. १९८१ में प्रकाशित **राइटर्स डायरेक्टरी** १९८२-८४ में **आर्नल्ड केटल** को जीवित बतलाया गया है जब कि **कविता के नये प्रतिमान** का द्वितीय संस्करण १९७४ में निकला था. यदि १९६८ में प्रकाशित प्रथम संस्करण में यह भूल हो गई थी तो उस भूल को द्वितीय संस्करण में तो ठीक किया ही जा सकता था. पर शायद **नामवरसिंह** स्वयं

इस तथ्य से परिचित न हों या उन्होंने सही स्थिति का पता लगाने की कोशिश ही न की हो.

इसी पुस्तक के एक-दो उदाहरण और देखना अप्रासांगिक नहीं होगा :

> बीस वर्ष बाद "तार सप्तक" के पुनर्मुद्रण के साथ निस्संदेह इतिहास की आवृत्ति हुई किन्तु जैसा कि मार्क्स ने "लुई बोनापार्ट" के अठारहवें ब्रूमेयर में लिखा है. . . (पृष्ठ ६६)

मार्क्स की जिस पुस्तक या लेख में यह लिखा है, क्या उसका नाम **लुई बोनापार्ट** है और यह पुस्तक या लेख कब, कहाँ प्रकाशित हुआ है ? उसमें किस पृष्ठ पर उक्त उद्धरण मिलेगा ? **ब्रूमेयर** क्या है ? परिच्छेद या पैरा या और कुछ ? उक्त उद्धरण से इन प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलता.

इसी प्रकार एक और जगह लिखा है :

> प्रश्न काव्य संसार का है जो अखण्ड होता है, जो अज्ञेय के शब्दों में संस्कृति के निचुरने और विकसने का पर्याय है. (पृष्ठ २१)

पर **अज्ञेय** ने ऐसा कहाँ लिखा है, इस सम्बन्ध में लेखक फिर चुप रह गया है.

विदेशी पुस्तकों के नामों के सम्बन्ध में यह भी देखा गया है कि लेखक किसी पुस्तक के सम्बन्ध में सही-सही जानकारी रखते हुए भी प्रायः उसका सही उल्लेख नहीं करते. **भोलानाथ तिवारी** ने **भाषा विज्ञान कोश** में लिखा है :

> किसी भी भारतीय भाषा का इस प्रकार का ऐतिहासिक कोश अभी तक नहीं बना. संस्कृत का मोनियर-विलियम्ज (!) का कोश इस प्रकार का है, यद्यपि बहुत अपूर्ण है... अंग्रेजी की आक्सफोर्ड डिक्शनरी इस प्रकार का सर्वोत्तम प्रयास है... (पृष्ठ १७३)

संस्कृत का यह कोश केवल **मोनियर-विलियम्ज** के कोश के नाम से यदि किसी पुस्तक-विक्रेता के यहाँ या पुस्तकालय में पूछा जाए तो मिल जाएगा, क्योंकि **मोनियर-विलियम्ज** ने संस्कृत का केवल एक ही कोश बनाया था और अब तक वह केवल एक ही रूप में निकला

है, भले ही उसका पुनर्मुद्रण कई बार हुआ हो या उसका सही नाम **ए डिक्शनरी, इंग्लिश एण्ड संस्कृत** हो. लेकिन जहाँ तक **अंग्रेजी की आक्सफोर्ड डिक्शनरी** का प्रश्न है, इस नाम से शायद ही कोई पुस्तक-विक्रेता सही पुस्तक मंगा सके या पुस्तकालयों में **आक्सफोर्ड** की उस डिक्शनरी का पता चल सके जिसका उल्लेख भोलानाथ तिवारी ने किया है.

आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस से अंग्रेजी की २० से अधिक डिक्शनरियां अलग-अलग नाम से प्रकाशित हुई हैं. अत **भोलानाथ तिवारी** का आशय अंग्रेजी की जिस **आक्सफोर्ड डिक्शनरी** से है, वह डिक्शनरी प्राप्त करने के लिए पाठक को उसका सही नाम ज्ञात होना आवश्यक है. अन्यथा इस बात की संभावना है कि **इंग्लिश की आक्सफोर्ड डिक्शनरी** माँगने पर पाठक को एक या दो खंडों वाली कई डिक्शनरियों में से कोई भी मिल सकती है जब कि **भोलानाथ तिवारी** का आशय जिस डिक्शनरी से है वह १२ खंडों वाली **आक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी** है. हमारा कहने का आशय यह कदापि नहीं है कि इस डिक्शनरी को **इंग्लिश की आक्सफोर्ड डिक्शनरी** कहना गलत है जैसा कि भोलानाथ तिवारी ने लिखा है. पर हमारा खयाल है कि यदि किसी नाम से भ्रांति की संभावना हो, तो सही एवं सुनिश्चित या विशिष्ट नाम ही देना चाहिए.

विदेशी लेखकों की कहानियां प्रकाशित करने की एक नयी प्रवृत्ति इधर हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में देखने में आ रही है और यह प्रवृत्ति इस कदर बढ़ गई जान पड़ती है कि प्रायः हर पत्र-पत्रिका यदा-कदा कोई-न-कोई विदेशी अनुदित कहानी प्रकाशित करना अपना कर्त्तव्य-सा समझने लगी है, यह अच्छी बात है और इससे किसी को शिकायत भी नहीं होनी चाहिए. पर आपत्ति तब होती है जब अनुदित कहानी के साथ न तो मूल लेखक का नाम ही दिया जाता है और न यह बतलाया जाता है कि कहानी किस भाषा की है या किस भाषा से उसका अनुवाद किया गया है ?

एक और बात यह भी हमारे देखने में आई है कि अनुदित कहानी के साथ दी गई सम्पादकीय टिप्पणी या 'इण्ट्रो' में प्रायः सभी विदेशी लेखकों को 'प्रसिद्ध' या 'विख्यात' बतलाया जाता है भले ही उसके पहले किसी पाठक ने उस लेखक का नाम भी सुना-पढ़ा न हो ?

सारिका के जुलाई १९८५ के प्रथम अंक में **लुई एम० मैरीवेदर** की एक अनुदित कहानी के साथ 'लेखिका' का परिचय इस प्रकार दिया गया है :

> **पिछले दो दशकों में अमरीकी नीग्रो कथाकारों की जो नयी पीढ़ी उभर कर आयी है उसमें अपने निपट यथार्थवादी दृष्टिकोण के लिए विख्यात लेखिका लुई एम० मैरीवेदर का स्थान अन्यतम है.** (पृष्ठ ५१)

यहाँ प्रश्न उठता है कि 'विख्यात' किस रूप में और कहाँ ? हमें इस टिप्पणी ने सबसे पहले इस 'लेखिका' के नाम की ओर आकर्षित किया. अपने अनुभव के आधार पर हमें विदेशी नामों का जो थोड़ा-बहुत ज्ञान है, उससे हम इतना तो जानते ही हैं कि ईसाई जगत में 'लुई' नाम स्त्रीलिंग न होकर पुल्लिंग है. अतः 'लुई' के साथ 'लेखिका' विशेषण पढ़कर कुछ अटपटा-सा लगा. फिर **लुई एम० मैरीवेदर** की न तो कोई कहानी ही हमने पहले कभी पढ़ी-देखी थी और न यह नाम ही कभी सुना था. टिप्पणी में 'लेखिका' के सम्बन्ध में जो सूचना दी गई है, उससे ज्ञात हुआ कि वे पिछले २० वर्षों से लिख रही हैं और और नीग्रो कथाकारों में उनका स्थान अन्यतम है. ऐसी प्रसिद्ध लेखिका का नाम किसी-न-किसी संदर्भ ग्रंथ में अवश्य होना चाहिए. पर कई संदर्भ ग्रंथ (यथा **हू इज हू, राइटर्स डायरेक्टरी, कन्टेम्पोरेरी नोवेलिस्ट्स**, आदि) एवं अमेरिकी साहित्य सम्बन्धी पुस्तकें देखने के बाद भी इस 'लेखिका' का नाम कहीं नहीं मिला.

सारिका के इसी अंक में **एंतोन चेखोव** की एक कहानी **दुःख** भी प्रकाशित हुई है. इस कहानी का नायक **लोना** एक तांगे वाला है और पूरी कहानी केवल एक दिन की घटनाओं पर आधारित है पर कहानी में कहीं उसे जवान बतलाया गया है तो कहीं बूढ़ा और यह भी केवल एक नहीं, कई स्थानों पर.

इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाले **अमृत प्रभात** के २९ अगस्त १९८३ के अंक में छपा था :

> **विश्वविद्यालय के छात्र नेताओं. . . ने कुलपति एवं विश्वविद्यालय के प्रशासन से माँग किया है कि नवनिर्मित लड़कियों के छात्रावास में तत्काल विद्युतीकरण करके उसे छात्राओं को आवंटित किया जाए.** (पृष्ठ ३)

यहां यह ध्यान देने की बात है कि क्या छात्रावास के लिए 'लड़कियों का निर्माण' किया जाता है कि 'नवनिर्मित लड़कियों के छात्रावास' लिखना पड़ा ? भाषा की दृष्टि से भी इस वाक्य में प्रयुक्त 'मांग किया है' कम-से-कम हमें तो इलाहाबाद की हिन्दी नहीं जान पड़ती. यह वाक्य यदि इस प्रकार लिखा जाता तो अर्थ अधिक स्पष्ट होता :

> **विश्वविद्यालय के छात्र नेताओं . . . ने कुलपति एवं विश्वविद्यालय के प्रशासन से माँग की है कि लड़कियों के नवनिर्मित छात्रावास में तत्काल विद्युतीकरण करके उसे छात्राओं को आवंटित किया जाए.**

इसी प्रकार **अमृत प्रभात** के २ जनवरी १९८५ के अंक में पहले पृष्ठ पर एक हेडलाइन थी :

> **अनेक मंत्रियों ने अपना कार्यभार सम्हाला.**

क्या यहाँ 'अनेक' शब्द का प्रयोग उचित है ? न तो किसी भी देश के मंत्रिमंडल में अनेक मंत्री होते हैं और न उनकी संख्या ही इतनी अधिक होती है कि उन्हें गिना न जा सके. अत: यहाँ यदि 'अनेक' की जगह 'कई' लिखा जाता तो अधिक उपयुक्त होता.

२२ अप्रैल १९८० को रवीन्द्र भवन, दिल्ली में **साहित्य अकादमी** द्वारा आयोजित **सार्त्र स्मरण सभा** में **नामवर सिंह** ने कुछ विचार व्यक्त किये थे जो बाद में १६ मई १९८० की **सारिका** में प्रकाशित हुए थे. कुछ उदाहरण देखिये :

> **सभी जानते हैं कि सातवें दशक के आसपास पेरिस में जब कुछ माओवादी पत्रकारों और बुद्धिजीवियों ने विद्रोह का झंडा उठाया और सरकार उनके दमन की ओर अग्रसर हुई थी तो सार्त्र ने आगे बढ़कर उस पत्र के सम्पादन का दायित्व लिया था और यह घोषणा की थी कि मैं उसका सम्पादक बनूँगा.** (पृष्ठ ३३)

यहाँ तीन बातें विचारणीय हैं. पूरे लेख (या भाषण) में कहीं भी यह नहीं बतलाया गया है कि सार्त्र ने किस पत्र के सम्पादन का दायित्व लिया था ? पहले यह अवश्य कहा गया है कि कुछ माओवादी पत्रकारों और बुद्धिजीवियों ने विद्रोह का झण्डा उठाया था लेकिन इससे यह कैसे समझ लिया जाए कि वे सब किसी एक पत्र-विशेष से

सम्बन्धित थे. और यदि कुछ देर के लिए यह मान भी लिया जाए कि ये किसी एक पत्र-विशेष से सम्बन्धित थे, तो भी यह कैसे पता चलेगा कि वह कौन सा पत्र था? 'सार्त्र ने आगे बढ़कर उस पत्र के सम्पादक का दायित्व लिया था' इसका क्या अर्थ है? यही न कि सार्त्र ने उस पत्र का सम्पादक बनना स्वीकार कर लिया था. यदि हाँ, तो इसके ठीक बाद 'और यह घोषणा की थी कि मैं उसका सम्पादक बनूंगा' लिखने की क्या आवश्यकता थी?

इसी संदर्भ में आगे लिखा है :

> फ्रांस के दो लेखक लगभग साथ-साथ सामने आए—आल्बेयर कामू और ज्यां पाल सार्त्र. किन्तु विचित्र बात है कि परस्पर विरोधी होते हुए भी एक राजनीतिक प्रश्न पर दोनों अलग हुए. मूलतः रिबेल का लेखक उतना ही, और उसके बारे में तो दो राय नहीं हैं कि अराजकतावादी, अनार्किस्ट था, मूल विचारधारा दोनों की एक थी, और बावजूद इसके यह कहा जाना उचित नहीं कि राजनीति में ज्यादा आगे बढ़कर हिस्सा कामू ने नहीं लिया, इसलिए एक शुद्ध साहित्यकार था, दूसरा शुद्ध साहित्यकार नहीं था, अशुद्ध साहित्यकार था और इसलिए कम महत्वपूर्ण था. (पृष्ठ ३३)

यहाँ पर एक प्रश्न तो यही उठता है कि 'परस्पर विरोधी होते हुए भी एक राजनीतिक प्रश्न पर दोनों अलग हुए' इसका क्या अर्थ है? यदि वे परस्पर विरोधी थे तो अलग तो पहले से ही थे. अतः विरोधी होते हुए भी उनके बाद में अलग हो जाने का क्या तुक है?

फिर यह भी जिज्ञासा उठती है कि रिबेल का लेखक कौन था? कामू या सार्त्र? क्या इसके पहले वाक्य से इस सम्बन्ध में कुछ पता चलता है? यदि नहीं, तो क्या **सारिका** के संपादक और **नामवर सिंह** यह मानकर चलते हैं कि उनके सभी पाठकों और श्रोताओं को यह पता होगा? निश्चय ही सभी पाठक या श्रोता **सारिका** संपादक मंडल के सदस्यों या **नामवर सिंह** के समान विदेशी, विशेषकर फ्रेंच साहित्य पढ़ने वाले नहीं हैं, अतः यह बतलाना आवश्यक था कि रिबेल का लेखक कौन है.

क्या 'अराजकतावादी' के तुरन्त बाद 'अनार्किस्ट' लिखना आवश्यक था? क्या 'अनार्किस्ट' का अर्थ ही 'अराजकतावादी' नहीं है, या क्या 'अराज-

कतावादी' इतना कठिन शब्द है कि उसका अर्थ हिन्दी जानने वालों को स्पष्ट करने के लिए बाद में अंग्रेजी शब्द 'अनार्किस्ट' लिखना भी जरूरी समझा गया ?

भाषण में तो कोई भी बात बार-बार दुहराई जा सकती है. एक ही शब्द को भी बार-बार अलग-अलग रूप में कहा जा सकता है, लेकिन भाषण जब प्रकाशन के लिए, विशेषकर एक मासिक पत्रिका के लिए, तैयार किया जाता है तो यह आवश्यक हो जाता है कि भाषा एवं वाक्य-विन्यास में आवश्यकतानुसार संशोधन कर दिया जाए.

सारिका के संपादकों ने निश्चय ही भाषण में आवश्यकतानुसार संशोधन किया है, अन्यथा इस लेख के सम्बन्ध में लिखी गई संपादकीय टिप्पणी में इसे नामवर सिंह के व्यक्त विचार नहीं कहा जाता. ऐसी स्थिति में हमें पत्र-पत्रिकाओं के संपादकों की जिम्मेदारी की बात याद आना स्वाभाविक है.

हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित रचनाओं के संपादन में इस प्रकार की गलतियाँ होना कोई नई बात नहीं है, पर सारिका जैसी सर्व साधन-सम्पन्न स्तरीय पत्रिका में भी ऐसी गलतियां हों, यह खेदजनक है.

अब हम एक और महत्वपूर्ण प्रश्न—हिन्दी लेखकों की भाषा—पर आते हैं. अक्सर लेखक अपनी रचनाओं में इस प्रकार का शब्दजाल फैलाते हैं कि कई बार पढ़ने पर भी पाठक या तो लेखक का अभिप्राय समझने में असफल रहता है, या उसे बहुत मुश्किल से समझ पाता है. कभी-कभी यह भी देखा गया है कि लेखक वाक्य में जिन शब्दों का प्रयोग करता है, उससे कम शब्दों में और अधिक सहजता से वही बात कही जा सकती थी।

कविता के नये प्रतिमान (नामवर सिंह) का एक वाक्य है :

> रस की मात्रा निर्भर बताई गयी है चित्तवृत्तियों की समाहिति में लगने वाले काल पर. (पृष्ठ १७६)

घुमा-फिराकर लिखे गये इस वाक्य को सीधी-सरल भाषा में, बिना कोई शब्द परिवर्तन किये क्या इस प्रकार नहीं लिखा जा सकता था :

> रस की मात्रा चित्तवृत्तियों की समाहिति में लगने वाले काल पर निर्भर बताई गयी है.

एक और उदाहरण देखिये :

> १६६६ के २१ और २८ दिसम्बर के "धर्मयुग" में डॉ० रामविलास शर्मा ने 'मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष और उनकी कविता' शीर्षक जो लम्बा लेख प्रकाशित किया है··· (पृष्ठ २५२)

यहां यह प्रश्न उठता है कि क्या रामविलास शर्मा कोई सम्पादक या प्रकाशक हैं ? क्योंकि प्रकाशन कार्य साधारणतः किसी प्रकाशक द्वारा ही किया जाता है. इस वाक्य को इस प्रकार भी लिखा जा सकता था :

> १६६६ के २१ और २८ दिसम्बर के "धर्मयुग" में डॉ० रामविलास शर्मा का 'मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष और उनकी कविता' शीर्षक जो लम्बा लेख प्रकाशित हुआ है···

डॉ० नगेन्द्र ने मेरे प्रिय निबन्ध के निवेदन में लिखा है :

> प्रस्तुत संकलन में 'आलोचक के आत्म विश्लेषण' के बाद पांच लेख शास्त्रीय या सैद्धान्तिक हैं.

पर पूरी पुस्तक देख जाने पर भी हमें कहीं आलोचक के आत्म विश्लेषण शीर्षक निबन्ध नहीं मिला.

राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह ने रोचक प्रसंग (प्रभात प्रकाशन, दिल्ली) में लिखा है :

> ईस्ट इंडिया कंपनी के सत्तारूढ़ होने पर जो शुरू-शुरू में अंग्रेज भारत आए. (पृष्ठ ३७)

यदि इसकी जगह

> ईस्ट इंडिया कंपनी के सत्तारूढ़ होने पर शुरू-शुरू में जो अंग्रेज भारत आए.

लिखा जाता तो अधिक अच्छा होता.

इसी प्रकार पृष्ठ १२३ पर लिखा है :

> समरू का वास्तविक नाम वाल्टर राइनहार्ट था, उसका जन्म फ्रांस और जर्मनी के बीच में स्थित लुक्सेमवर्ग के राज्य में हुआ था· उसका वास्तविक नाम राइन हार्ट सोम्ब्रे था···

यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि समरू का वास्तविक नाम क्या था ? वाल्टर राइनहार्ट या राइनहार्ट सोम्ब्रे, या दोनों ?
एक और उदाहरण देखिये :

> पर सबसे प्रामाणिक है वह रिपोर्ट जो लुई पोलिये नामक ईस्ट इंडिया कम्पनी में काम करने वाले एक स्विस पदाधिकारी ने कम्पनी के पास लन्दन भेजी थी.

घुमा-फिराकर लिखा गया यह वाक्य सीधे-सादे रूप में इस प्रकार भी लिखा जा सकता था :

> पर सबसे प्रामाणिक है वह रिपोर्ट जो ईस्ट इंडिया कम्पनी में काम करने वाले लुई पोलिये नामक एक स्विस पदाधिकारी ने कम्पनी के पास लन्दन भेजी थी···

अज्ञेय के **संवत्सर** से लिया गया एक उद्धरण देखिये :

> मुझे याद है, विदेश में रहते हुए एक बार मैंने कमरे से घड़ी-कैलेंडर वगैरह सब हटा दिये थे, और जो घड़ी मकान के साथ मुझे मिली थी उसे रसोई घर में टाँग दिया था—और पाया था कि मानों शब्द मात्र में व्याप्त नाद की भाँति काल सारे घर में छा गया हो. (पृष्ठ ११—१२)

यहाँ दृष्टव्य है कि लेखक ने घड़ी-कैलेंडर वगैरह कमरे से हटा दिये थे, न कि पूरे मकान से, जैसा कि 'जो घड़ी मकान के साथ मुझे मिली थी, उसे हटाकर रसोई-घर में टाँग दिया था' से स्पष्ट है. ऐसी स्थिति में 'मानों काल सारे घर में छा गया हो' यह प्रतीति कैसे संभव है ? क्योंकि घड़ी-कैलेंडर वगैरह तो अभी भी घर में ही थे.
इसी उदधरण के आगे लिखा है :

> बात यह थी कि रसोई घर की एक दीवार केवल लकड़ी के तख्ते की थी—(और इसी पर कील लगाये जा सकते थे इसलिए घड़ी उस पर टांगना संभव था) —और घड़ी के लिए यह समूची काठ की दीवार एक गूंज घर का काम देने लगी थी. घड़ी अदृश्य

थी पर, वीणा के तूंबे की तरह उसकी टिक-टिक को घर भर में गुंजा देने काम वह दीवार कर रही थी.

रसोई-घर की केवल एक दीवार लकड़ी की थी अतः अधिक-से-अधिक यह हो सकता है कि वह दीवार घड़ी की टिक-टिक को रसोई-घर के साथ-ही-साथ उस दीवार से लगे कमरे को भी गुंजा देने का काम कर रही थी न कि पूरे घर-भर को.

नीलाभ प्रकाशन द्वारा १९५४ में प्रकाशित एक पुस्तक के मुख पृष्ठ पर पुस्तक का शीर्षक इस प्रकार दिया हुआ है :

नाटककार अश्क

जिनमें रंगमंच सम्बन्धी अश्क जी के सभी लेख शामिल हैं

नीलाभ प्रकाशन अश्क जी की अपनी निजी प्रकाशन संस्था है, वे या उनके परिवार के सदस्य स्वयं उसके मालिक हैं और इस कारण यह मानना गलत नहीं होगा कि नीलाभ प्रकाशन द्वारा प्रकाशित किसी भी पुस्तक के प्रकाशन के सम्बन्ध में प्रारंभ से लेकर अन्त तक सभी बातों पर अश्क जी का पूरा नियंत्रण रहता है और पुस्तक किस रूप में प्रकाशित की जाए, उसका शीर्षक क्या और किस प्रकार दिया जाए, तथा पुस्तक की साज-सज्जा आदि सभी बातों का निर्णय अश्क जी द्वारा या अश्क जी की सहमति से किया जाता है.

इस पुस्तक में **जगदीश चन्द्र माथुर** के मुख्य लेख के अतिरिक्त **गोपाल कृष्ण कौल, कमलेश्वर** और **दुष्यंत कुमार** के समीक्षा लेख तथा **भैरव प्रसाद गुप्त, द्वारका प्रसाद** एवं **निर्मल चन्द्र श्रीवास्तव** के परिचयात्मक लेख हैं. इनका संकलन किया है **कौशल्या अश्क** ने.

पुस्तक का शीर्षक स्पष्टतः **नाटककार अश्क** है और यह एक ही शीर्षक है, और निश्चय ही पुस्तक भी एक ही है. अतः दूसरी पंक्ति में पहला शब्द 'जिनमें' बहुबचन होने के कारण यहाँ उपयुक्त नहीं. अब हम वह पूरा वाक्य देखें 'जिनमें रंगमंच सम्बन्धी अश्क जी के सभी लेख शामिल हैं'. इस वाक्य से क्या अभिप्राय निकलता है ? एक सम्भावित अर्थ यह है :

इस पुस्तक में केवल अश्क जी के रंगमंच सम्बन्धी सभी लेख शामिल हैं.

यदि संकलनकर्ता का यही अभिप्राय है तो इस पुस्तक का उप-शीर्षक ठीक नहीं जान पड़ता. उप-शीर्षक में **रंगमंच सम्बन्धी अश्क** का क्या अभिप्राय है, यह हमारी समझ से बाहर की बात है. पर जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, इस पुस्तक में

> **१. अश्क जी का एक भी लेख नहीं हैं.**
> **२. कुछ लेखकों के नाटककार अश्क से सम्बन्धित कुछ लेख शामिल हैं.**

ऐसी स्थिति में उप-शीर्षक में 'रंगमंच सम्बन्धी अश्क' के साथ-ही-साथ 'सभी' शब्द का प्रयोग भी अनुपयुक्त है. क्योंकि जो लेख इस पुस्तक में संकलित किये गये हैं, उनके अतिरिक्त और भी कई ऐसे लेख हैं या होंगे जो इस विषय से सम्बन्धित हैं और यह पुस्तक प्रकाशित होने से पूर्व प्रकाशित हुए होंगे.

प्रभाकर माचवे ने **लक्ष्मी बेन** की **भूमिका** में लिखा है :

> **बंगाली में पाँचू नाम होता है.**

और फिर पृष्ठ ६२ पर लिखा है :

> **बंगला भाषा है या रहने के मकान को कहते हैं, यह भी उन्हें पता नहीं था.**

इन दोनों उद्धरणों में **बंगाली** और **बंगला** शब्द उल्लेखनीय हैं. इन दोनों ही शब्दों का प्रयोग एक भाषा के लिए हुआ है. क्या दोनों प्रयोग सही हैं ?

राग दरबारी (श्रीलाल शुक्ल / राजकमल / १९७८) का एक वाक्य है :

> **गाँव के बाहर बद्री पहलवान का किसी ने रिक्शा रोका.** (पृष्ठ ५३)

इस वाक्य को इस प्रकार घुमा-फिराकर लिखने की अपेक्षा निम्न प्रकार भी तो लिखा जा सकता था :

> **गाँव के बाहर बद्री पहलवान का रिक्शा किसी ने रोका.**

या

> **गाँव के बाहर किसी ने बद्री पहलवान का रिक्शा रोका.**

जो पढ़ने में सरल और ग्राह्य है.
एक और उदाहरण देखिये :

> यह [तस्वीर] गाँव की देहाती लड़कियों में से किसकी थी ···

क्या यहां 'गाँव की' के वाद 'देहाती' शब्द आवश्यक है ? इस शब्द के बिना भी तो पाठक वही अर्थ लेते जो इसके रहने से निकलता है.

यशपाल ने झूठा सच (लोक भारती प्रकाशन/चतुर्थ संस्करण, १९७७) में लिखा है :

> प्रौढ़ सज्जन, फाटक से छोलदारी के सामने आकर हाथ जोड़ भीड़ से अनुरोध कर रहा था.

यहाँ 'प्रौढ़ सज्जन' के साथ 'कर रहा था' का प्रयोग कहाँ तक उचित है ?
इसी पुस्तक में पृष्ठ ५७९ पर लिखा है :

> सवा पांच बज रहे थे, परसू साबुन लेकर नहीं लौटा था ···
>
> परसू पाँच बजे लौटा.

पाठक सोचता ही रह जाता है कि यदि परसू सवा पाँच बजे तक नहीं लौटा था तो फिर वह पाँच बजे ही कैसे लौट आया ?

अज्ञेय ने **संवत्सर** की 'भूमिका' में लिखा है :

> यों तो काल और उसकी प्रतीति की समस्या तत्व-चिन्तन और तर्क की सनातन समस्या रही है. मैं न तो तत्व-चिन्तक हूं, न तार्किक, यद्यपि दोनों क्षेत्रों में मेरी रुचि बराबर रही है.

सामान्यतः 'यों तो' से प्रारम्भ किये गये वाक्य के अन्त में अर्द्ध विराम लगाना चाहिए क्योंकि उसके आगे भी लेखक को पहले कहे गये वाक्य (याने 'यों तो' से प्रारम्भ किये गये वाक्य) की पुष्टि में कुछ कहना होता है. पर यहाँ 'यों तो' से प्रारम्भ किये गये वाक्य के अन्त में पूर्ण विराम ही नहीं लगाया गया है, वरन उसके बाद भी ऐसी कोई बात नहीं कही गई है कि पूर्ण विराम के स्थान पर अर्द्ध-विराम लगा दिया जाए. उचित तो यह होता कि वाक्य का प्रारम्भ ही 'यों तो' से नहीं किया जाता, तब यह और इसके बाद का वाक्य कुछ युक्ति-संगत लगता.

अलग-अलग वैतरणी (शिवप्रसाद सिंह/लोक भारती प्रकाशन/तृतीय संस्करण, १९७७) का एक उदाहरण देखिये :

> बादामी रंग के पीले मुंह में उसकी साफ़ उजली आंखें खरबूजे के काले बीज की तरह जड़ी हुई लगतीं. (पृष्ठ ६८)

आँखें मुंह 'में' होती हैं या मुंह 'पर' ? क्या खरबूजे के बीज काले होते हैं ? जहाँ तक हमें पता है खरबूजे के नहीं तरबूज के बीज काले होते हैं.

एक और उदाहरण देखिये :

> बड़ी रात गये तक शशिकांत तालाब के किनारे पेड़ की जड़ में बैठा सोचता रहता.

जहाँ तक हमारा खयाल है, पेड़ की जड़ 'में' बैठना किसी के लिए भी विशेषकर एक युवक के लिए सम्भव नहीं है.

कृषक जीवन सम्बन्धी ब्रजभाषा शब्दावली (अम्बा प्रसाद 'सुमन'/हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद) के **आत्म निवेदन एवं आभार** का एक वाक्य देखिये :

> उपर्युक्त इन सम्मतियों को सरकार की सेवा में प्रेषित करने के उपरान्त मैंने बहुत दिनों तक उत्तर की प्रतीक्षा की.

इस वाक्य में 'इन' शब्द का प्रयोग कहाँ तक उचित है ? क्या उसके बिना भी लेखक की बात स्पष्ट नहीं होती जो 'इन' के रहने से होती है ?

इसी प्रकार **अंग्रेजी हिन्दी भौतिक विज्ञान कोष** (भारतीय हिन्दी परिषद / १९५१) की भूमिका में लिखा गया है :

> इस संकलन की मुख्यतः सभी सामग्री हमें डॉ० निहाल करण सेठी जी द्वारा मिली है.

यदि 'सभी' सामग्री सेठी जी द्वारा मिली है तो 'सभी' के पहले 'मुख्यतः' लिखने की क्या आवश्यकता है ?

तेलुगु-हिन्दी शब्द कोश (हिन्दुस्तानी एकेडेमी) के मुख पृष्ठ पर '**शब्द संख्या २५६२६**' दी हुई है पर भूमिका में लिखा गया है :

इस कोश में ३०,००० से अधिक शब्द संकलित किये गये हैं.

हिन्दुस्तानी एकेडेमी द्वारा ही प्रकाशित एक अन्य पुस्तक का शीर्षक मुख पृष्ठ पर है **कन्नड-हिन्दी शब्द कोश** पर भूमिका में 'कन्नड़' लिखा गया है. **तुलसी शब्द सागर** के मुख पृष्ठ पर प्रकाशक का नाम **हिन्दुस्तानी एकेडमी** दिया गया है पर **प्रकाशकीय वक्तव्य** में सर्वत्न 'एकेडेमी' लिखा गया है.

मानक हिन्दी कोश (रामचन्द्र वर्मा/हिन्दी साहित्य सम्मेलन/५ खंड/ १९६६) में मुख पृष्ठ पर एवं प्रकाशकीय वक्तव्य में भी **हिन्दी साहित्य सम्मेलन** लिखा गया है पर भूमिका में सभी जगह **हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन** लिखा है.

मृगावती (संपादक—माता प्रसाद गुप्त/प्रामाणिक प्रकाशन, आगरा/ १९६८) में कहीं '**शब्द कोश**' लिखा गया है और कहीं '**शब्दकोश**'. **भाषा विज्ञान कोश** (भोलानाथ तिवारी / ज्ञानमण्डल / संवत २०२०) में **कोश विज्ञान** के अन्तर्गत कोश के तीन प्रकार बतलाये गये हैं—**पुस्तक कोश, व्यक्ति कोष** तथा **भाषा-कोश**. यहां हमारा प्रश्न यह नहीं है कि 'कोश' ठीक है या 'कोष' और 'भाषा कोश' लिखा जाए या 'भाषा-कोश'. हमारा कहना तो मात्न यह है कि दोनों या सभी रूप ठीक होने पर भी कोई एक ही रूप क्यों न अपनाया जाए ? एक ही वाक्य या एक ही पुस्तक में एक ही संदर्भ में किसी शब्द के अलग-अलग रूपों के प्रयोग का क्या औचित्य है ? आश्चर्य तो इस बात का है कि ऐसा प्रयोग उस व्यक्ति के द्वारा किया गया है जो भाषा के मानवीकरण का दुर्दान्त आग्रही रहा है. इस प्रकार के आग्रह का औचित्य तो समझ में आता है पर इसकी पहल भी स्वयं ऐसे लोगों को ही करनी चाहिए.

पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत एक शोध-प्रबन्ध **हिन्दी क्रियाओं का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन** (शैल पाण्डेय/पीयूष प्रकाशन, इलाहाबाद/ १९८५) एक भाषा वैज्ञानिक ग्रंथ होते हुए भी इसमें भाषा विज्ञान के अति साधारण नियमों तक का निर्वाह नहीं किया गया है. पूरी पुस्तक में कहीं **भाषा वैज्ञानिक** लिखा है, कहीं **भाषा-वैज्ञानिक**, तो कहीं **भाषावैज्ञानिक**. इसी प्रकार क्रियाओं का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन करने वाले इस ग्रंथ में कहीं 'हुए' और 'गए' लिखा गया है तो कहीं

'हुये' और 'गये'. ऐसी भूलें लेखिका की अपने विषय के सम्बन्ध में गैर-जिम्मेदारी का ही परिचय देती हैं.

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा द्वारा कई पुस्तकें 'विभिन्न विश्व-विद्यालयों के पाठ्यक्रमों में स्थान देने के लिये' विशेष रूप से तैयार की गई हैं. ऐसी ही एक पुस्तक **ललित निबन्ध** (विश्वविद्यालय प्रकाशन/चतुर्थ संस्करण, १९८०) के आमुख में लिखा है :

> इस संग्रह में हिन्दी के उत्तम निबंधों की रचनाएं संग्रहीत हैं··· निबंध के विकास की रूपरेखाएं बताने के लिए तथा संकलन में संग्रहीत रचनाओं के लेखकों के साहित्य का संक्षिप्त रूप में परिचय देने के लिए एक 'भूमिका' में जोड़ी गई है.

जब विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों के लिए हिन्दी की प्रतिष्ठित संस्थाओं द्वारा तैयार की गई पुस्तकों की यह स्थिति है तो सामान्य प्रकाशकों से क्या आशा की जा सकती है ?

लोरिकी (श्याममनोहर पाण्डेय/साहित्य भवन/१९७९) की भूमिका में लिखा गया है :

> नई पीढ़ी के पास अब न तो समय है और न उसके पास कोई प्रेरणा है कि जिसके कारण वह इतने बड़े महाकाव्य को सीखे. (पृष्ठ १२)

यहां संदर्भ लोरिकी लोक काव्य की गायन परम्परा का है अतः नई पीढ़ी द्वारा **महाकाव्य को सीखने** की बात हमारी समझ में नहीं आयी. डॉ० पाण्डेय जो कहना चाहते हैं, वह अधिक अच्छी तरह इस प्रकार कहा जा सकता था ।

> नई पीढ़ी के पास अब न तो समय है और न उसके पास कोई प्रेरणा है कि जिसके कारण वह इतने बड़े महाकाव्य की परम्परा बनाये रखे.

इसी प्रकार भूमिका का ही एक और उदाहरण देखिये :

> लोरिकी की परम्परा मौखिक है. इस पर छपी पुस्तकों ने प्रभाव नहीं डाला है. लिखित पाठ परम्परा और मुद्रित पुस्तकों का आदर्श गायक के सामने नहीं रहा. (पृष्ठ १५)

यहां दूसरा वाक्य **इस पर छपी पुस्तकों ने प्रभाव नहीं डाला है**

द्विअर्थी होने के कारण भ्रमात्मक है. इस वाक्य के दो अर्थ इस प्रकार हो सकते हैं :

१. लोरिकी पर छपी पुस्तकों ने लोरिकी की मौखिक परम्परा पर प्रभाव नहीं डाला है.

२. छपी पुस्तकों ने लोरिकी की मौखिक परम्परा पर प्रभाव नहीं डाला है.

लेखक का आशय स्पष्ट ही दूसरे अर्थ से है. अतः यह वाक्य, किसी भी प्रकार का भ्रम दूर करने के लिए इस प्रकार लिखा जाना चाहिए था :

> लोरिकी की परम्परा मौखिक है और छपी पुस्तकों ने इस पर प्रभाव नहीं डाला है.

प्रायः देखा गया है कि लेखक अपनी रचनाओं में ऐसे विषयों का भी समावेश कर देते हैं और उस विषय से सम्बन्धित बातें इस प्रकार लिखते हैं जिससे जान पड़ता है कि उन्हें उस विषय का कोई ज्ञान नहीं है. इससे कभी-कभी बड़ी ही हास्यास्पद स्थिति हो जाती है और जानकार पाठक यह सोचने के लिए बाध्य होता है कि शायद पाठकों को प्रभावित करने के लिए ही यह सब लिखा गया है. अपने लोग (रामदरश मिश्र/नेशनल पब्लिशिंग हाउस/१९७६) में लिखा है :

> …हुई पार्क और राजगढ़ ताल के बीच की सुनसान सड़क पर आते ही डाक्टर ने कार की रफ्तार मन्द कर दी…
>
> …
>
> …
>
> "…हां मंजरी, मैं तुम्हारा प्यासा हूं." कहकर डाक्टर ने कार रोक दी। (पृष्ठ ४०१)

इसके बाद दोनों में कुछ देर बात होती है.

> "…मरीज तो तुम्हारे पास बैठा है मंजरी !" कहकर डाक्टर ने कार की बाहर और भीतर की रोशनी बुझा दी…
>
> …
>
> डाक्टर ने भक से लाइट जला दी और गाड़ी धीरे-धीरे स्टार्ट कर दी…

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि जब तक दोनों में बातचीत होती रही, कार की भीतर और बाहर की लाइटें जली हुई थीं और डाक्टर ने बाद में बाहर तथा भीतर की लाइटें तभी बुझाईं जब उसने 'मरीज तो तुम्हारे पास बैठा है, मंजरी !'' कहा.

जिन लोगों को कार ड्राइविंग का अनुभव है, वे उक्त उद्धरण पढ़ने के बाद डाक्टर (जो कि अरसे से कार चलाता था) के ड्राइविंग सम्बन्धी अज्ञान का ही परिचय पाएंगे. नये से नये ड्राइवर को भी यह पता रहता है कि जब कार रोकना होती है (एंजिन बन्द करना होता है) तो पहले लाइट बुझा दी जाती है और उसके बाद ही एंजिन 'आफ' किया जाता है अन्यथा बैटरी खराब होने की आशंका रहती है.

इसी प्रकार जब कार चलती होती है तो अन्दर की लाइट बुझी रहती है पर जैसा कि उक्त उद्धरण से स्पष्ट है, जब तक कार चलती रही, अंदर की लाइट भी जली रही. कार स्टार्ट करने के सम्बन्ध में भी ज्ञातव्य है कि **कार स्टार्ट करने के बाद ही लाइट जलाई जाती है न कि लाइट जलाने के बाद कार स्टार्ट की जाती है.** पर यहां इसका बिलकुल उल्टा लिखा गया है.

अमृत और विष (अमृतलाल नागर/लोक भारती प्रकाशन/पंचम संस्करण, १९८२) में लिखा है :

> **मेडिकल जाँच होते-हवाते जब यात्रियों के उतरने की नौबत आयी, तब लच्छू के मन में पहला सवाल यही था···** (पृष्ठ ३७६)

वायुयान के ताशकंद पहुंचने के विवरण में यह बात लिखी गयी है. हमें अब तक कई बार बीस से अधिक कंपनियों के विमानों से यात्रा करने का अवसर मिला है और पचासों बार विमान से उतरे भी हैं, पर स्मरण नहीं आता कि वायुयान से उतरने के पहले ही मेडिकल जांच हुई हो. प्रायः सभी देशों में नियम यही है कि वायुयान से उतरने के बाद ही और एअरपोर्ट से बाहर निकलने के पहले मेडिकल सर्टिफिकेटों की जांच तथा अन्य पूछताछ होती है.

> **बिजली की केतली में पानी उबल रहा था. लच्छू ने चाय डालकर स्विच बंद किया.** (पृष्ठ ५६७)

सामान्यतः बिजली की केतली में पानी उबल जाने पर, केतली में उबलते पानी में चाय नहीं डाली जाती और न चाय डालने के बाद

स्विच बन्द किया जाता है. पानी उबल जाने के बाद ही स्विच बन्द किया जाता है. (सुरक्षा की दृष्टि से) कप में (या किसी अन्य बर्तन में) पहले चाय डालकर फिर उसमें उबला हुआ पानी डाला जाता है. **कोहरे** (दीप्ति खंडेलवाल/१९७७) में मई के आरम्भ का विवरण देते हुए लिखा गया है :

> एक बेहद तपती दोपहर, मुझे भी क्या हो गया कि मैं बाहर चलते लू के झक्कड़ों में निकल पड़ी···
>
> सचमुच बाहर लू के, गर्म झोंके नहीं, झक्कड़ चल रहे थे··· (पृष्ठ ५६)

इसके बाद सिमी के बाहर से लौटकर आने पर बतलाया गया है :

> मैं शावर के नीचे बैठ गई थी··· झर··· झर··· झर··· (पृष्ठ ५८)

यहां लिखने में कोई गलती नहीं है, पर उक्त पंक्तियां पढ़कर हमें लगभग २० वर्ष पूर्व की एक घटना याद आ गई. अगस्त १९६५ में हमें बिना किसी पूर्व-नियोजित कार्यक्रम के करांची में एकाएक रुकना पड़ गया. वायुयान के करांची पहुंचने पर इमीग्रेशन विभाग वालों ने हमें वहां उतरने नहीं दिया क्योंकि हमारे पासपोर्ट पर पाकिस्तान का वीसा नहीं था. बाद में एअरपोर्ट के निकट ही स्थित एक होटल में इस शर्त पर चौबीस घंटे तक ठहरने की सुविधा मिली कि मैं इस बीच वीसा ले लूँ. वीसा के चक्कर में करीब एक घंटे तक शहर में भटकना पड़ा. गर्मी बेहद थी ओर दोपहर का समय था. बाहर चल रहे लू के थपेड़ों से जूझता जब मैं होटल के कमरे में लौटा तो वहां पहुँचते ही कपड़े फेंककर सीधा शावर के नीचे जा पहुँचा. परिणाम दो घंटे बाद मालूम हुआ जब एकाएक तेज बुखार आया.

यहां लेखिका ने सिमी को शावर के नीचे तो बैठा दिया पर वह भली-चंगी रही, यही आश्चर्य है.

गर्म राख (उपेन्द्रनाथ अश्क/नीलाभ प्रकाशन/तीसरा संस्करण, १९७८) में फोटोग्राफी के सम्बन्ध में लिखा है :

> आतिशदान पर श्री धर्मदेव वेदालंकार द्वारा खींचे तथा एनलार्ज किये हुए फोटो लगे थे. एक में वे

> **[धर्मदेव वेदालंकार] अपने साथियों के साथ बर्फ पर मार्ग बनाते हुए चले जा रहे थे···** (पृष्ठ ८६)

कोई व्यक्ति अपने **साथियों के साथ बर्फ पर मार्ग बनाते हुए अपना फोटो स्वयं खींच** ले, यह बात कुछ जंचती नहीं. उपन्यास में जिस समय की पृष्ठभूमि है, वह आज से लगभग ४० वर्ष पहले का समय था. तब से अब तक कैमरों के निर्माण की तकनीक में काफी विकास हुआ है. इसके वावजूद **सेल्फ एक्सपोजर** तकनीक में इतनी सुविधा नहीं हो सकी है कि कोई व्यक्ति इस प्रकार अपना फोटो स्वयं खीच ले, जैसा कि पुस्तक में बतलाया गया है. विशेषकर बर्फ वाले मैदानों में तो ऐसा कर सकना और भी कठिन है. यहां यह भी ज्ञातव्य है कि धर्मदेव वेदालंकार कोई पेशेवर फोटोग्राफर नहीं थे.

यहां भाषा के सम्बन्ध में भी इसी पुस्तक से लिया गया एक उद्धरण देना अप्रासंगिक नहीं होगा :

> **···यद्यपि पुरुष काफी संख्या में आये थे, लेकिन स्त्रियां अधिक न थीं···** (पृष्ठ ८६)

इस वाक्य में **अधिक** शब्द का प्रयोग हमें ठीक नहीं जान पड़ता. हमारे खयाल से यह वाक्य अलग-अलग अर्थ के अनुसार निम्न प्रकार लिखा जाना चाहिए :

> **...यद्यपि पुरुष काफी संख्या में आये थे, स्त्रियां भी कम न थीं···**

या

> **···पुरुष काफी संख्या में आये थे पर स्त्रियां कम थीं···**

हिन्दी की श्रेष्ठ एवं पुरस्कृत पुस्तकों में पाये जाने वाले ऐसे बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं, पर हम समझते हैं कि और उदाहरण देना आवश्यक नहीं है. उपरोक्त उदाहरणों से ही यह स्पष्ट हो गया होगा कि हम क्या कहना चाहते हैं और यह कि पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं में पाई जाने वाली इस प्रकार की तथा अन्य त्रुटियों को मात्र प्रूफ की त्रुटियां कहकर नहीं टाला जा सकता.

ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि हिन्दी प्रकाशनों में पाई जाने वाली इस प्रकार की त्रुटियों के लिए किसे जिम्मेदार ठहराया जाए? क्या ऐसा कुछ नहीं किया जा सकता कि इस प्रकार की त्रुटियां न रहने पाएं?

हमारे विचार से लेखक और प्रकाशक दोनों ही इसके लिए जिम्मेदार हैं और चूंकि प्रकाशक का कार्य लेखक की पुस्तक को पाठक तक पहुंचाना होता है, अतः इस संबंध में प्रकाशक की जिम्मेदारी और भी बढ़ जाती है.

किसी लेखक की पुस्तक की पांडुलिपि जब प्रकाशक के पास प्रकाशन के लिए विचारार्थ आती है तो देखा यही गया है कि अधिकांश प्रकाशक केवल लेखक का नाम देखकर और प्रायः पांडुलिपि पढ़े बिना ही निर्णय कर लेते हैं कि पांडुलिपि स्वीकृत की जाए या नहीं. इस प्रक्रिया में प्रतिष्ठित एवं प्रकाशक के अपने निजी लेखकों की कृतियां तो स्वीकृत हो जाती हैं और बाकी बची हुई कृतियां प्रकाशक या तो अपने किसी कर्मचारी को उसकी राय जानने के लिए दे देता है या (यदि उसके कार्यालय में ऐसा कोई कर्मचारी नहीं है) स्वयं ही पांडुलिपि पढ़कर उसके प्रकाशन का निर्णय करता है. विदेशों में प्रकाशक इस कार्य के लिए संपादक, साहित्य-संपादक, साहित्यिक सलाहकार या पांडुलिपि-संपादक जैसे व्यक्तियों की नियुक्ति करते हैं. ये लोग अपने विषय के विद्वान एवं अनुभवी तो होते ही हैं, उन्हें इस बात का ज्ञान होना भी आवश्यक समझा जाता है कि प्रकाशन के लिए संपादन करते समय यदि उन्हें पांडुलिपि में लिखी गई किसी बात, वाक्य या शब्द के संबंध में कोई जिज्ञासा हो तो उसके लिए कहाँ, किसकी सहायता ली जाए. इस कार्य के लिए वे आवश्यकतानुसार संदर्भ ग्रंथों की सहायता लेते हैं और पांडुलिपि का संपादन वे बहुत ही निर्ममता से इस प्रकार करते हैं कि कभी-कभी लेखक स्वयं अपनी प्रकाशित पुस्तक का रूप देखकर चकित रह जाता है. प्रकाशित पुस्तक एक बिल्कुल ही नये और ऐसे रूप में पाठकों के सामने आती है कि उसे देख और पढ़कर तबियत खुश हो जाती है.

क्या ऐसा ही कुछ हिन्दी प्रकाशक नहीं कर सकते ? इस लेख में हमने जिन पुस्तकों के उदाहरण दिये हैं, प्रायः सभी के प्रकाशक प्रतिष्ठित और साधन-संपन्न माने जाते हैं. उन पुस्तकों के लेखक भी अपने विषय के विद्वान हैं. तब फिर क्या कारण है कि उन पुस्तकों में ऐसी त्रुटियाँ रह गईं ? इस प्रकार की त्रुटियां हिन्दी प्रकाशनों में प्रारंभ से ही चली आ रही हैं और अभी तक किसी ने इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार नहीं किया जान पड़ता है. अब समय आ गया है कि लेखक और प्रकाशक इस ओर ध्यान दें.

● ●

हिन्दी प्रकाशन : प्रकाशकीय दायित्व

भारत में प्रकाशित अंग्रेजी[1] पुस्तकों या अंग्रेजी पुस्तकों के प्रकाशकों के संबंध में हमें कोई विशेष जानकारी नहीं है पर जहां तक हिन्दी पुस्तकों के प्रकाशन की बात है, यह निर्विवाद है कि 'लिटरेरी एजेण्ट' जैसे प्राणी का उसमें कोई योगदान नहीं रहता. ऐसे लेखक जिनकी पुस्तकें हजारों की संख्या में छप चुकी हैं या छप रही हैं या जो साहित्य में स्थापित हो चुके हैं, उनके भी अपने कोई 'लिटरेरी एजेण्ट' नहीं हैं. शायद यही कारण है कि हिन्दी में 'लिटरेरी एजेण्ट' के लिए अभी तक कोई शब्द नहीं गढ़ा गया है. पर यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है. यहां अधिकांश लेखकों को पारिश्रमिक या रायल्टी मिलती ही कितनी है ? यदि किसी लेखक को अपनी किसी पुस्तक पर साल भर में ४-५ हजार रु० भी रायल्टी के रूप में मिल जाए तो बहुत बड़ी बात है. ऐसी स्थिति में कोई 'लिटरेरी एजेण्ट' की बात करे भी तो कैसे ! बेचारा 'एजेण्ट' टिकने ही कहाँ पाएगा ?

इसके विपरीत पाश्चात्य देशों में तो पुस्तक प्रकाशन के क्षेत्र में बिना लिटरेरी एजेण्ट की सहायता के एक पत्ता भी नहीं खड़कता. यदि कोई लेखक सीधे किसी ब्रिटिश या अमेरिकी प्रकाशक को अपनी पुस्तक की पांडुलिपि भेज दे तो उसे स्वीकार करना तो बहुत दूर, शायद ही कोई प्रकाशक उसे पढ़ना भी पसंद करे. संभावना यही है कि उसकी पांडुलिपि इस सुझाव के साथ वापिस आ जाएगी कि आप किसी लिटरेरी एजेण्ट के द्वारा ही पांडुलिपि भिजवाइये. वार्षिक रूप में प्रकाशित होने वाली LMP (लिटरेरी मार्केट प्लेस) और आथर्स एण्ड आर्टिस्ट्स ईयर बुक जैसी पुस्तकों में ऐसे कई एजेण्टों के नाम-पते दिये रहते हैं जो यह कार्य करते हैं.

[1] यहां 'अंग्रेजी' शब्द से तात्पर्य 'अंग्रेजी भाषा' से है.

प्रश्न हो सकता है कि किसी लेखक को अपनी पुस्तक या लेख प्रकाशित कराने के लिए किसी लिटरेरी एजेण्ट की सहायता लेने को क्यों कहा जाए ? इस प्रश्न का सीधा सा उत्तर यही है कि चूंकि प्रकाशकों के पास प्राय: प्रतिदिन ही प्रकाशन के लिए विचारार्थ पांडुलिपियां आती रहती हैं और उनके पास इतना समय नहीं रहता कि वे इस प्रकार आई हुई प्रत्येक पांडुलिपि को पढ़कर उनमें से अच्छी और प्रकाशन योग्य पांडुलिपियों का चुनाव करें, अत: यह कार्य याने अच्छी, प्रकाशन योग्य पाडुलिपियों के चुनाव का कार्य वे लिटरेरी एजेण्टों पर छोड़ देते हैं. प्रकाशक जानते हैं कि कोई भी लिटरेरी एजेण्ट अपनी प्रतिष्ठा के खयाल से यह कभी नहीं चाहेगा कि अच्छी या बुरी सभी प्रकार की पाडुलिपियां बिना पढ़े ही प्रकाशक के पास विचारार्थ भेज दे. लिटरेरी एजेण्ट को लेखक से १० प्रतिशत कमीशन प्रकाशित पुस्तक की रायल्टी पर मिलता है. अत: शुरू से ही उसका प्रयत्न रहता है कि वह प्रकाशक के पास ऐसी पाडुलिपियां ही भेजे जिनके प्रकाशन की अधिक संभावना हो. प्रकाशित पुस्तक की प्रत्येक बिकी हुई प्रति पर लिटरेरी एजेण्ट को लेखक से १० प्रतिशत रायल्टी तो मिलती ही है, कुछ एजेण्ट पांडुलिपि पढ़ने और उसके संबंध में उचित सलाह देने के लिए लेखक से अतिरिक्त चार्ज करते हैं. लेखक को इसके बदले में क्या मिलता है ? एक बार यदि कोई एजेण्ट किसी लेखक की कोई पांडुलिपि विचारार्थ स्वीकृत करता है तो फिर वह उस पांडुलिपि को पढ़ने में पर्याप्त श्रम करता है और आवश्यक हुआ तो लेखक को पांडुलिपि में आवश्यक संशोधन करने और कभी-कभी पुस्तक का नाम बदलने की भी सलाह देता है.

लिटरेरी एजेण्ट की मार्फत आई हुई कोई पांडुलिपि जव किसी प्रकाशक द्वारा प्रकाशन के लिए स्वीकृत कर ली जाती है तो यहीं पर उसका काम और जिम्मेदारी समाप्त नहीं हो जाती. लेखक और प्रकाशक के बीच होने वाले अनुबंध की प्रत्येक शर्त वह ध्यानपूर्वक पढ़ता है और यह देखता है कि उसमें कोई ऐसी बात तो नहीं है जिससे बाद में लेखक को हानि होने की आशंका हो या जो लेखक के हितों के विरुद्ध हो. चूंकि अब वह एक प्रकार से लेखक का पार्टनर बन चुका होता है (पार्टनर इस रूप में कि अब उसे प्रकाशित पुस्तक की प्रत्येक बिकी हुई प्रति पर १० प्रतिशत कमीशन मिलेगा), वह पुस्तक की बिक्री के लिए प्रचार करना आरंभ कर देता है. प्रचार के लिए वह

रेडियो, टेलीविजन, पुस्तकालय, विश्वविद्यालय आदि के प्लेटफार्म पर लेखक के भाषण आयोजित करवाता है और कोशिश करता है कि समाचार पत्रों में लेखक की इस पुस्तक के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ चर्चा होती रहे.

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि अधिकांश लिटरेरी एजेण्ट स्वयं भी कभी सम्पादक और लेखक रह चुके होते हैं. अतः उन्हें इस क्षेत्र का पूरा अनुभव रहता है. उदाहरणतः **राज क्वार्टेट** के लेखक **पाल स्काट** पहले लंदन की एक लिटरेरी एजेन्सी के डायरेक्टर और प्रसिद्ध प्रकाशक **हाइनेमन** के साहित्यिक सलाहकार थे. यद्यपि **लेडी चैटरलीज लवर** के प्रख्यात लेखक **डी. एच. लारेंस** के लिटरेरी एजेण्ट **लारेंस पोलिगर** स्वयं लेखक नहीं थे, डी. एच. लारेंस अपनी पुस्तकों पर आलोचनात्मक निर्णय के लिए **पोलिगर** पर पूर्णतः निर्भर रहते थे. अंग्रेजी का आज ऐसा कोई भी प्रसिद्ध लेखक नहीं है, चाहे वह **ग्राहम ग्रीन** हो, **विलियम गोल्डिंग** हो या **साओल बेलो** हो, जिसका कोई-न-कोई लिटरेरी एजेण्ट न हो.

जो कुछ भी हो, यह भी ध्यान में रखने की बात है कि कोई भी लिटरेरी एजेण्ट किसी खराब पुस्तक को अच्छी पुस्तक नहीं बना सकता. अतः लेखकों को यह नहीं समझना चाहिए कि प्रकाशक के पास किसी एजेण्ट के मार्फत पांडुलिपि भिजवाने मात्र से ही उनकी पुस्तकें प्रकाशन के लिए स्वीकृत कर ली जाएंगी. वस्तुतः पांडुलिपि में कुछ दम होना चाहिए तभी लिटरेरी एजेण्ट कुछ कर सकता है. लिटरेरी एजेण्ट का कार्य वस्तुतः ऐसी पुस्तकों और प्रकाशकों के बीच माध्मय बनना है जिनके विषय में उनका खयाल रहता है कि वे बिक सकती हैं. इसके लिए लिटरेरी एजेण्ट नये-नये लेखकों की तलाश में रहते हैं और यदि किसी लेखक की पांडुलिपि देखकर उन्हें लगता है कि उसमें कुछ क्षमता है तो वे किसी प्रकाशक के पास कोई पांडुलिपि विचारार्थ भेजने के पूर्व उसमें आवश्यक संशोधन कर उसे वह रूप देने का प्रयत्न करते हैं कि प्रकाशक द्वारा उसके अस्वीकृत किये जाने की संभावना ही न रहे. लेकिन यहां एक बात ध्यान में रखना चाहिए. लिटरेरी एजेण्टों का कार्य यह नहीं है कि वे लोगों को लिखना सिखाएं.

लेखक की दृष्टि से, जहां तक उसकी पुस्तक के प्रकाशन का सम्बन्ध है, लिटरेरी एजेण्ट के बाद दूसरा और सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति

प्रकाशक का संपादक या साहित्य-संपादक होता है. कोई पांडुलिपि प्रकाशन के लिए स्वीकृत की जाए या नहीं, यह निर्णय प्रकाशक का साहित्य-संपादक ही करता है. वह ही पांडुलिपि का मूल्यांकन इस दृष्टि से करता है कि प्रकाशित होने पर पुस्तक बिक सकेगी या नहीं ? वह समालोचकों को आकर्षित कर पाएगी या नहीं ? पाठकों और पुस्तक-विक्रेताओं में उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी ? सामान्यत: प्रकाशक अपने साहित्य-संपादक की राय जानकर ही कोई निर्णय लेता है, अतः किसी भी पांडुलिपि के भाग्य निर्णय के लिए मुख्यतः साहित्य-संपादक ही जिम्मेदार होता है. प्रकाशक द्वारा पांडुलिपि स्वीकृत कर लिये जाने और अनुबंध हो जाने के बाद भी साहित्य-संपादक लेखक को पांडु-लिपि में संशोधन करने के लिए कह सकता है और लेखक को उसकी राय माननी पड़ती है. प्रकाशक के साहित्य-संपादक का महत्व केवल इस बात से जाना जा सकता है कि कई प्रसिद्ध एवं स्थापित लेखकों ने भी उनकी राय बिना किसी प्रकार का नूं-नच किये मानी है और यह जानते हुए भी कि वे साहित्य-संपादक स्वयं कोई लेखक नहीं हैं, उनके कहने के अनुसार अपनी पांडुलिपि में संशोधन किया है.

अक्सर देखा गया है और कई प्रसिद्ध लेखकों ने यह स्वीकार भी किया है कि कोई भी पांडुलिपि अंत में पुस्तक बनकर जिस रूप में पाठकों के सामने आती है, वह पूर्णतः बदला हुआ होता है. साहित्य-संपादक द्वारा संशोधन, संपादन होने के बाद पांडुलिपि कभी-कभी ऐसी हो जाती है कि स्वयं लेखक भी उसे अपनी कहने में हिचक सकता है. शायद यही कारण है कि कई प्रसिद्ध लेखकों ने अपनी पुस्तकें उन पुस्तकों के साहित्य-संपादकों को समर्पित की हैं. **हेमिंग्वे** ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **द ओल्ड मेन एण्ड द सी** प्रकाशक **चार्ल्स स्क्रिबनर** और साहित्य-सम्पादक **मैक्स पर्किन्स** को समर्पित की थी क्योंकि लेखक के कथना-नुसार मैक्स की वजह से ही वह उपन्यास यह रूप ले सका. **साओल बेलो** ने अपना उपन्यास ह**र्जोग** 'अपने मित्र एवं संपादक' **कोविंसी** को समर्पित किया था तो **टी० एस० इलियट** ने **वेस्ट लेण्ड** का समर्पण **एजरा पाउण्ड** जैसे ऐसे 'बुद्धिमान संपादक' को किया था जिसने 'उसके मूल प्रारूप का निर्ममता से संपादन' कर उसे वर्तमान रूप दिया. अभी कुछ वर्ष पूर्व अमेरिकी पत्रिका **अटलांटिक मंथली** में एक लेख छपा था जिसमें पुस्तक-प्रकाशन में साहित्य-संपादक के योगदान की चर्चा करते हुए कई प्रसिद्ध लेखकों ने अपनी पुस्तकों के साहित्य-संपा-दकों के प्रति आभार प्रदर्शित किया था.

लिटरेरी एजेण्ट और साहित्य-संपादक के इस 'पेशे' में अब महिलाएं भी काफी संख्या में आ गई हैं और सच पूछा जाए तो आजकल यूरोप और अमेरिका में जितने लिटरेरी एजेण्ट हैं, उनमें से अधिकांश महिलाएं हैं और वे सफल भी हुई हैं. यही महिलाएं बाद में प्रकाशकों के लिए साहित्य-संपादक का कार्य करते-करते अंत में स्वयं भी या तो प्रकाशक बन जाती हैं या अपने प्रकाशकों से विवाह कर उनकी पार्टनर. एक प्रसिद्ध साहित्य-संपादिका से जब उसके कार्य के विषय में पूछा गया कि वह कैसे निर्णय करती है कि कोई पांडुलिपि प्रकाशन योग्य है या नहीं ? तो उसने कहा था, "पूरी पांडुलिपि पढ़ने के पूर्व मैं सरसरी दृष्टि से पृष्ठ उलट कर दो-चार पैरा पढ़ती हूं. कभी-कभी एक पैरा पढ़कर ही पूरी पुस्तक पढ़ने की इच्छा हो जाती है और कभी-कभी दो-चार पृष्ठ पढ़ने के बाद पता चल जाता है कि पांडुलिपि में कोई दम नहीं है". सामान्यतः प्रत्येक पांडुलिपि में पहला और अंतिम अंश बहुत महत्वपूर्ण होता है और कई संपादकों ने स्वीकार किया है कि यह अंश देखकर ही उन्हें किसी पुस्तक की संभावनाओं का पता चल जाता है. पर जो पांडुलिपियां अस्वीकृत की जाती हैं, उन्हें इस प्रकार वापिस किया जाता है कि उनके लेखकों को किसी प्रकार का अपमान महसूस न हो, यथा :

> आप की पांडुलिपि हमने पढ़ी है और उसे पढ़कर आनन्द भी आया, लेकिन कुछ अपरिहार्य कारणों से हम इसे प्रकाशित करने में असमर्थ हैं. संभव है कोई अन्य प्रकाशक इस पर किसी अन्य दृष्टि से सोचे.

इसके बाद यदि लेखक दृढ़ प्रतिज्ञ और निष्ठावान है तो वह एक के बाद एक कई प्रकाशकों को तब तक वह पांडुलिपि भेजता रहेगा जब तक कि वह स्वीकृत नहीं हो जाती या तंग आकर वह स्वयं ही चुप नहीं बैठ जाता.

कई बार देखा गया है कि कुछ पुस्तकें प्रारंभ में कई अच्छे-अच्छे प्रकाशकों द्वारा अस्वीकृत कर दी गईं और बाद में जब वे किसी अन्य प्रकाशक द्वारा प्रकाशित की गईं. तो इतनी अधिक बिकीं कि प्रकाशन-क्षेत्र में चर्चा का विषय बन गईं. **जर्जी कोसिंस्की** का उपन्यास **स्टेप्स** कई प्रकाशकों द्वारा अस्वीकृत किये जाने के बाद **रेण्डम हाउस** ने प्रकाशित किया था जो समालोचकों ने इतना अधिक पसंद किया कि

उस पर कई पुरस्कार भी मिले. कहा जाता है कि बाद में लेखक ने प्रकाशकों से बदला लेने के लिए वही उपन्यास नये शीर्षक से उन्हीं प्रकाशकों के पास फिर से भेजा और इस बार भी उनके साहित्य-संपादकों द्वारा अस्वीकृत कर दिया गया, शायद इस बार उसे दूसरे लोगों (साहित्य-संपादकों) ने पढ़ा होगा तथा शायद उन्हें पता नहीं था कि यह उपन्यास पहले किसी अन्य नाम से प्रकाशित हो चुका है और उसे कई अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार मिल चुके हैं.

पाश्चात्य देशों में किसी लेखक के लिए किसी प्रकाशक से सीधे मिल पाना सामान्यतः संभव नहीं है पर यहां भारत में प्रकाशक ही सभी प्रकार के निर्णय करता है. एक तो यहां प्रकाशकों के यहां साहित्य-संपादक होते ही नहीं और यदि किसी के यहाँ होते भी हैं तो प्रकाशक सामान्यतः उनकी राय को महत्व नहीं देते. अपने साहित्य-संपादक या सलाहकार की राय न होने पर भी प्रकाशक कोई भी पुस्तक प्रकाशन के लिए ले लेता है. इसका मुख्य कारण यह है कि कुछ अपवादों को छोड़कर भारत में किसी पुस्तक का प्रकाशित हो पाना या न हो पाना कुछ और ही बातों पर निर्भर रहता है. किसी मन्त्री को यदि एकाएक 'अमरत्व' प्राप्त करने की इच्छा जागृत हो उठे तो वह अपने किसी चमचे, स्टेनो या क्लर्क से अपनी जीवनी लिखवाकर प्रकाशक को दे देता है. ऐसी स्थिति में वह पुस्तक साहित्यिक दृष्टि से कोई महत्व न रखते हुए भी प्रकाशक के लिए सोने का अण्डा देने वाली मुर्गी सदृश रहती है. उसकी शत-प्रतिशत बिक्री की गारंटी तो रहती ही है. इसी प्रकार कोई शिक्षा अधिकारी या कुलपति शिक्षा नीति पर सहसा कुछ लिख डालने की सनक कर उठे, भले ही वह अन्य पुस्तकों या समाचार पत्रों की कतरनों से जुटाकर इकट्ठा किया हुआ मैटर हो, तो प्रकाशक इतना बेवकूफ तो नहीं है कि उसे प्रकाशित करने को तैयार न हो. ऐसी पुस्तकों के लिए तो प्रकाशकों में होड़-सी लग जाएगी. भले ही प्रकाशक को इस पुस्तक को प्रकाशित करने में घाटा हो जाए, लेकिन इसकी पूर्ति वह अपनी पाठ्य पुस्तकों की, अपनी पुस्तकों को पाठ्यक्रम में लगवाने की सफलता से पूरी कर लेगा.

विदेशों में ऐसी कोई बात नहीं होती. वहाँ तो प्रकाशक के साहित्य-संपादक का निर्णय अन्तिम, प्रायः त्रुटिहीन, अपरिवर्तनीय और पक्षपात रहित होता है. वहाँ प्रकाशक के लिए, उसके साहित्य-संपादक के लिए

सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात एक ऐसी पुस्तक पाठकों के सामने लानी होती है जो अपने विषय की दृष्टि से सर्वथा नई हो तथा जो मुद्रण एवं भाषा की गल्तियों से परे एक ऐसी सुन्दर कृति हो कि उसे देख-पढ़कर मन प्रसन्न हो उठे. इसके विपरीत भारत में अधिकांश प्रकाशकों को, विशेषकर हिन्दी प्रकाशकों को, तो मानों हर चीज की जल्दी पड़ी रहती है. पुस्तक पूरी लिखी जाने के पूर्व ही उसे छापना शुरू कर दिया जाता है. प्रकाशक को इतना समय ही नहीं रहता कि वह पांडु-लिपि ठीक से पढ़ सके या जो कुछ छप रहा है, जैसा छप रहा है, उस पर कुछ ध्यान दे. इस कारण भारत में छपी अधिकांश हिन्दी पुस्तकें पढ़ने में न तो मन लगता है और न उन पर कुछ विचार करने की ही इच्छा होती है. भारतीय लेखकों में, और विशेषकर हिन्दी लेखकों में प्रतिभा की कमी नहीं है. पर उनकी प्रतिभा को पहिचानने वालों और उसे ठीक ढंग से पाठकों के समक्ष उपस्थित करने वाले प्रकाशकों की कमी अवश्य है. यदि इस ओर हिन्दी प्रकाशक थोड़ा भी ध्यान दे सकें तो कोई कारण नहीं कि हिन्दी पुस्तकें प्रत्येक दृष्टि से विदेशों में छपी हुई पुस्तकों के सामने न ठहर सकें.

● ०

'ज्ञानपीठ पुरस्कार' मिलने की सूचना के बाद महादेवी जी से भेंट-वार्ता

हिन्दी तो सबकी बड़ी बहन है...

जब आपको ज्ञानपीठ पुरस्कार पाने की सूचना मिली तो आपने कैसा महसूस किया ?

हमको कुछ भी नहीं लगा. एकदम नहीं लगा, क्योंकि हम से तो बात हुई नहीं. **रामजी**[1] ने कहा कि **लक्ष्मीचन्द्रजी**[2] ने बधाई दी है ? कहा कि आपको **ज्ञानपीठ पुरस्कार** मिल गया है. तो मन में ये आया कि क्यों हो गया है ऐसा ? उनके यहां तो नियम था नहीं और उसमें हम आते ही नहीं. तो बात खत्म.

फिर भी आपको खुशी तो महसूस हुई होगी ?

नहीं खुशी भी नहीं. आश्चर्य थोड़ा सा हुआ कि आखिर यह नियम उन्होंने क्यों तोड़ा ? उन्होंने यह नियम बनाया था कि तीन वर्ष में प्रकाशित पुस्तकों में से ही चयन करके पुरस्कार दिया जाएगा. जब बनाया था नियम, तो कोई कारण होगा कि तोड़ा.

एक बात यह बताएं कि आपको कैसा लगता है जब वे ही साहित्यकार बधाई देने आते हैं. जिन्होंने भारत-भारती पुरस्कार लेने पर आपकी आलोचना की थी ?

देखो भई ! हमको तो उसमें भी बुरा नहीं लगा था. हम जानते हैं कि वे सब छोटे हैं हमसे न ! कोई हमको दीदी कहता है तो कोई कुछ कहता है. तो जानते हैं कि इनके मन में कुछ चोट लगी होगी, इनको नहीं मिला तो. तो बेचारे नाराज हैं. हमारे मन में तो क्षमा ही रहती है उनके लिए. आए हैं तो ठीक है. अब संकोच होगा उनके मन में. अपने आप ही जैसे नरेश [**श्री नरेश मेहता**] ने कहा कि हमने

1. **डॉ. रामजी पाण्डेय, महादेवीजी के निजी सहायक**
2. **निदेशक, भारतीय ज्ञानपीठ**

वक्तव्य पढ़ा नहीं था और साइन कर दिया. क्या कह दिया ? इतना ही कहा न कि उनसे नहीं लेना था और कह दिया कि दबाब के कारण लिया. दबाव तो हमने अपने परिवार का नहीं माना, समाज का नहीं माना. बताइये, हमसे अधिक विद्रोही कौन है ?

आपने पुरस्कार की राशि से साहित्यकारों की सेवा हेतु न्यास की स्थापना की है. उसका नाम क्या रक्खा है ?

साहित्य सहकार.

उद्देश्य क्या है ?

उद्देश्य यह है कि जो साहित्यकार आर्थिक संकट में हों या अन्य किसी कष्ट में हों उनकी सहायता कर सकें. उनकी कृतियों के प्रकाशन का प्रबन्ध कर सकें. हमसे जैसे भी हो उनकी सहायता कर सकें जिससे साहित्य की वृद्धि हो सके. क्योंकि समारोह तो हो ही सकते हैं और पुरस्कारों में हम इसलिए विश्वास नहीं करते कि वे लड़ाई की बातें हैं. पर यदि कोई साहित्यकार अस्वस्थ है तो न्यासियों को चाहिए कि अपने आप पता रक्खें और फिर विनयपूर्वक सहायता दें.

न्यास के सदस्य कौन-कौन से हैं ?

अब उनको अभी बताएं तो लड़ाई होने लगेगी.

फिर भी आपके मन में कुछ लोग होंगे ?

हम तो जानते हैं, वे तो लिखे हुए हैं. लेकिन बताएंगे नहीं अभी.

कभी-न-कभी तो उनका नाम स्पष्ट हो ही जाएगा ?

यह तो है ही. कागज में तो सब नाम हैं. पर हम अभी कहेंगे तो वे कल ही लड़ने पहुंचेंगे कि हमारा नाम नहीं है, हमारा नाम नहीं है.

जब भी नाम प्रकाशित होंगे तो यही प्रश्न उठेगा ?

वे नाम ऐसे हैं कि विवाद नहीं है उन पर. अच्छे नाम हैं.

आपने साहित्यकार संसद की स्थापना की थी तो क्या इस नये न्यास की स्थापना साहित्यकार संसद से भिन्न उद्देश्य को लेकर कर रही हैं ?

साहित्यकार संसद के तो उद्देश्य अनेक थे. केवल यह नहीं था कि साहित्यकारों की सहायता करेंगे. उसमें पुरस्कार भी देते थे. माखनलाल जी को दिया, दिनकर जी को दिया, वृन्दावन जी को दिया, बहुतों को दिया.

पर आज साहित्यकार संसद का रूप कैसा हो रहा है ? कोई सक्रियता नहीं दिखती ?

ऐसा है कि उसकी सदस्यता फैली हुई है. उसने एक मंच दिया था सबसे पहले. १९४८ में हम स्वतंत्र हुए और आवश्यकता महसूस की कि सब भाषाओं के लिए एक मंच हो. हमने सन् ५० में यहां सम्मेलन किया. बहुत अच्छा हुआ था. एक महीने तक बाहर के अनेक साहित्यकार आकर रहे और पहली बार एक मंच पर अपनी भाषा में बोले और हमने उनको दुभाषिया दिया. यह नयी बात थी. पहले ऐसा नहीं होता था. अब भी कम होता है. फिर हमने सताकुला में नैनीताल के पास शिविर किया था. वहां भी सबको बुलाया था और हमने सबको मुक्ति दे दी कि अपनी-अपनी भाषा में बोलें. यह नहीं कि आप हिन्दी जानते हैं तो हिन्दी में बोलें. हमारा प्रधान उद्देश्य तो यह था कि सबमें सद्भाव हो. सब मिलकर बैठें. सब एक बात कहते थे. मौलाना आजाद ने एक बार हिन्दी के खिलाफ कुछ कहा था तो हम लोगों का जो वक्तव्य था वह पूरे भारत का था. उसमें विवाद नहीं था. उस समय वातावरण ही ऐसा था. फिर सरकार ने प्रस्ताव रक्खा, मदद देने का.

साहित्यकार संसद को ?

नहीं, अपने वहाँ रक्खा और हम विधान परिषद में थे तो हमको बुला कर कहा कि एक **हिन्दी समिति** बना लेते हैं, बताओ क्या करें ? हमने कहा बना लीजिये. उसमें उन्होंने कोष रक्खा, पुरस्कार रक्खा. उसमें उन्होंने पुरस्कारों को इस तरह दिया कि जो उनके अनुगत थे, उन्हें ही मिलता था. उसकी रूपरेखा तो हमने बनाई थी, लेकिन सदस्यता ? स्वयं मुख्य मंत्री उसके अध्यक्ष थे और उन्होंने सब ऐसे व्यक्ति रक्खे. तो हम उसमें नहीं रहे. एक साल रहे, फिर हमने कहा हम नहीं रहेंगे. **साहित्य अकादमी** भी हमारी देखरेख में बनी थी. **नेहरूजी** ने कहा तो जाकर बनाई और वह भी देखो कैसी हो गई. जब सरकार मदद देने लगी और देने लगी अपने आदमियों को तो वातावरण बदलने लगा. जो साहित्यकार उनके पक्ष में थे उनको मदद ज्यादा मिली. हमने तो कभी लिया नहीं कुछ. **साहित्यकार संसद** के लिए भी नहीं लिया और **विद्यापीठ**[1] के लिए भी नहीं लिया. अपने लिए भी कुछ नहीं लिया. मतलब यह कि हम जानते

[1]. प्रयाग महिला विद्यापीठ

थे कि उनसे यदि हम कुछ लेते हैं तो हमसे काम लेंगे कुछ और. तो वातावरण वहीं से खराब हुआ. सरकार नौकरी देने लगी. **पंतजी** को उसने १४००) रु० पर आकाशवाणी में रख लिया. उसने करीब-करीब सबको खरीद लिया. अब स्थिति यह हो गई कि हमारे सदस्य हैं दूर-दूर के, फैले हुए हैं. तो वहीं मीटिंग हो जाती है. अब यहां हम बुलाएं तो हमें १००००) रु० चाहिए. वैसे उसमें हमने खर्च किया. अपनी रायल्टी से हम देते रहे हैं. हम अब तक २४०००) दे चुके हैं.

साहित्यकार संसद को ?

हां. और १००००) दद्दा ने दिया, **मैथिलीशरणजी** ने.

पर आज तो उसका भवन उपेक्षित पड़ा है और सक्रियता नहीं है ?

हां, यह तो है. अब लोग वहाँ रहने नहीं जाते. लेकिन हम चाहते हैं कि अब उसका आरम्भ हो. कुछ व्यक्ति तो हैं ही अच्छे. फिर ये था कि जो लिखना चाहे, उसको हम सुविधा दें वहां. एक महीना-दो महीना तय कर लेते थे. **जहाज का पंछी** वहां लिखा गया. **अश्क जी** आये तो वहाँ रहे. **माखनलाल जी** रहे. **निराला जी** रहे तीन-चार वर्ष. उनका सब प्रबन्ध करते थे. अपनी चीजें एक किस्त में पूरी कर लेते थे और छपने को दे देते थे.

पर अश्क जी ने तो अपनी एक पुस्तक[1] में साहित्यकार संसद की बहुत कटु आलोचना की है.

यह उनकी आदत है. हालांकि सबसे अधिक उनको लाभ हुआ. ये बम्बई में, चलचित्र में थे. वहां उनको टी० बी० हुई. पंचगनी गए दवा के लिए. वहां रुपया नहीं था. मेरे पास लिखा तो हम अपने आप गये वहाँ. **सम्पूर्णानन्दजी** से कहा कि मदद करनी है उनकी, बीमार हैं. उन्होंने कहा कि वे पंजाब के हैं, उत्तर प्रदेश के नहीं. हमने कहा कि अब वे हिन्दी में लिखते हैं. **हिन्दी तो सबकी बड़ी बहन है.** कहीं कोई हिन्दी में लिखता हो तो हिन्दी जगत उसकी मदद करे. आप क्यों मानते हैं कि पंजाबी हैं तो पंजाब मदद करे ? फिर हम दो-तीन बार गए तो वे माने और रुपया भेजा. ये अच्छे हो गये. सामान लेकर यहां आये. आये तो **साहित्यकार संसद** में ठहरा दिया इन्हें. अब तरह-तरह की शिकायतें, दूर तो था ही.

1. **गर्म राख (नीलाभ प्रकाशन / तीसरा संस्करण, १९७८)**

बच्चे पढ़ने कैसे जाएं ? और ये रहते थे तो दूसरा कैसे जाए. एक आदमी अधिकार कर ले तो दूसरा कैसे रहे ? जहाँ तक हो सका, दद्दा ने, सबने उनकी बड़ी मदद की. पर उनका स्वभाव ऐसा है.

साहित्यकार संसद के पुनरुद्धार के लिए अब आप क्या कर रही हैं ?

न्यास करेगा.

नया न्यास क्या केवल हिन्दी के साहित्यकारों को ही सहायता देगा या समस्त भारतीय भाषा के साहित्यकारों को ?

है तो अभी हिन्दी को ही. पर हमारा उद्देश्य वही है. यह पुरस्कार देने की बात नहीं मानते. उससे आदमी खरीदा जाता है और इससे ईर्ष्या-द्वेष होगा. इसको दिया, उसको नहीं दिया. साहित्यकार संसद में भी दिनकर को पहले कुरुक्षेत्र पर दिया गया. दिनकर दद्दा को मानते भी थे. उनका स्वभाव ऐसा था. ये [अश्क] किसी को नहीं मानते. मुझे लगता है कि कभी-कभी मन इतना छोटा होता है न ! दूसरा उपकार करता है तो मानने के लिए बड़ा मन चाहिए. अपनी उदारता भी चाहिए. जब अपना अहंकार रहता है तो आदमी उसी का शत्रु होता है, जो उपकार करता हैं उपकार मानना बड़ा कठिन है. अब इनमें से बहुत से ऐसे हैं, यूनीवर्सिटी में, जिनके लिए हम बहुत दौड़े थे. इनमें रघुवंश [डॉ० रघुवंश] ऐसे हैं, जो मानते होंगे. उनके पास जब ये साहित्यकार गये तो उन्होंने कहा कि नहीं, मैं दस्तखत नहीं करूंगा. हम उनके लिए बहुत दौड़े थे. धीरेन्द्र वर्मा ने कहा कि जब हाथ वाले मिलते हैं तो मैं बिना हाथ वाले को क्यों रक्खूं ?[1] इतनी कड़ी बात कह दी. फिर बिशप[2] से मिलकर, कह सुन-कर नियुक्ति करायी. हालांकि उतना ही किया जगदीश [डा० जग-दीश गुप्त] के लिए भी. अहमदाबाद में शोध के लिए गए थे तो पैसे कम पड़ गये थे. जगदीश यह मानते या नहीं मानते. कुछ लोग होते हैं न, मानव द्रोह जिनमें होता है तो किसी का एहसान नहीं मानते, हमारा तो जाने दीजिये. जैसे, यहाँ मानव[3] भी थे, जो नहीं रहे. मानव जी का भी यही हाल था. कुछ मानव भीतर से द्रोही होते हैं. उसका क्या करें ? इसलिए वे लिखेंगे. अपनी किताब [4]हमको दिखाई

1. डॉ० रघुवंश के दोनों हाथ जन्मना अशक्त हैं.

2 (स्व०) बिशप लेनार्ड रेमण्ड, सेण्ट जोजफ सेमिनरी, इलाहाबाद.

3. (स्व०) विश्वम्भर मानव

4. धर्म राज.

भी नहीं कि क्या लिखा. हम चिन्ता भी नहीं करते, पढ़ते भी नहीं, कौन क्या लिखता है ? हमें ठीक लगा, वह किया. दूसरा क्या करता है, हमें अभीष्ट भी नहीं.

'यामा' पर आपको पुरस्कार मिला है ? क्या आप भी इसको अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति मानती हैं ?

अरे, हमारी अभी कोई नहीं है. सर्वश्रेष्ठ कृति भी नहीं मानते.

आज के हिन्दी-साहित्य की गतिविधि से क्या आप संतुष्ट हैं ? यदि नहीं तो उसमें क्या अपेक्षित है ?

असन्तुष्ट हैं. पर करें क्या ? हिन्दी हमारी मातृभाषा है, हिन्दी हमारे विचार का माध्यम है, अनुभूति का माध्यम है. वैसे भी संविधान में राज्यभाषा है. अगर न होती तो भी इतने विशाल क्षेत्र की भाषा है पर उसकी गतिविधि रुद्ध हो गई है. देखिये, सरस्वती इतनी बड़ी नदी थी वैदिककाल में. आज कहाँ है वह ? समाप्त हो गई ? कितनी भी गहरी नदी हो, अगर उसमें और जल नहीं मिलता, समाप्त हो जाएगी. हिन्दी का भी यही हाल है. आजकल की चीजें पढ़ें तो धीरे-धीरे उर्दू आने लगी है. जैसी हिन्दी लिखी जाती थी, वैसी नहीं लिखी जाती. धीरे-धीरे उर्दू की ओर चले हैं लोग.

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से हिन्दी विश्वविद्यालय की स्थापना की बात चली है, इस सम्बन्ध में आपका क्या खयाल है ?

हमें भी पता नहीं. हम उसमें हैं क्या ?

हमें यह पता नहीं. पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन हिन्दी विश्वविद्यालय बनाने की चेष्टा में है.

वो भी लड़ेंगे. जब तक 'युद्धं देहि' समाप्त नहीं होता, तब तक क्या करेंगे ? चाहे जितने विश्वविद्यालय बनें, वे क्या कर रहे हैं ? कुछ नहीं कर रहे हैं. सम्मेलन जब तक एक रूप नहीं रहता है. तो परिणाम में, जितनी शाखाएं होंगी सबमें युद्ध होगा. तो एक नया युद्ध आरम्भ करें, उससे क्या फायदा ? अगर मेल हो सकता है तो इसी में. इसके पास रुपया है. हिन्दी के लिए अच्छा कार्य कर सकते हैं. नहीं करते, लड़ते हैं दिन-रात ? अब और एक स्थान लड़ने का हो जाएगा. तो हमें अब नये विश्वविद्यालय नहीं चाहिए. जो हैं, उनमें सद्भाव हो, काम किया जाए. दोनों के विवाद में हम थक गये. इसी से उर्दू आई, अंग्रेजी भी ठहरी और हिन्दी का प्रश्न समाप्त हो गया.

नागरी प्रचारिणी की हालत देखिये. बहुत रुपया है. भयंकर स्थिति है. रुपया जहां आता है, यही होता है. काम करने वाले नहीं रहते. सुविधा चाहिए. तब लोगों को कष्ट चाहिए था, लोगों ने सर्वस्व दिया. अब कोई ऐसा नहीं करता. फिर भी पत्रकार तो अच्छे होते हैं. लेखक तो और भी भयंकर होते हैं. लेकिन हमारे मन में तो क्षमा ही रहती है. अब हमसे छोटे हैं. क्या कहें उनसे ? **गोविन्द वल्लभ पंत** कहते थे. बच्चा धूल में खेल कर आता है, गोद में बैठ जाता है तो क्या मां-बाप की गोद मैली होती है ? जो बड़ा होता है, उसके मन में असीम क्षमा भी होनी चाहिए. लिखा तो लिखा. अब क्या कहें उनसे? पर असल में तो दूसरे प्रकार की इच्छा थी उनकी कि जव यह कह देंगी कि इन्दिरा के हाथों से पुरस्कार नहीं लेंगे तो इन्दिरा नाराज होंगी. एक बार भवानी [**स्व० भवानी प्रसाद मिश्र**] को पुरस्कार मिला था, घोषणा हो गई थी. किसी ने कहा ये सरकार के खिलाफ लिखते हैं. उनका पुरस्कार रोक लिया गया. इसलिए ये लोग भी सोचते थे कि इन्दिरा कहेगी हमारे हाथ से लेने को मना करती हैं, कहती है कि रक्तरंजित हाथ हैं. नहीं नहीं, इन्दिरा ने यह कहा नहीं. इन्दिरा ने कहा कि वे अच्छी हो जाएंगी, तब मैं आऊंगी. तो वे जो चाहते थे वह नहीं हुआ. इसलिए बेचारे नाराज हैं और उनमें कई को पुरस्कार नहीं मिला. वे चाहते थे. वे लोग छुटभइयों से क्या लड़ते ? उनसे लड़ते तो कौन उन पर ध्यान देता. हमी से लड़ते हैं.

● ●

हिन्दी शोध कार्य : उपलब्ध सामग्री

हिन्दी शोध कार्य के लिए जो सामग्री उपलब्ध है, वह कई रूपों में है. यहां हमारा उद्देश्य ऐसी सामग्री की सूची मात्र प्रस्तुत करना नहीं वरन उन रूपों का विवरण देना है जिनमें यह सामग्री मिल सकती है. अन्यथा ऐसी सामग्री की सूची तो शोधकर्ताओं को अपने पुस्तकालय के सूचीपत्र से आसानी से मिल सकती है.

कोई भी कार्य कितना ही अच्छा क्यों न हो और शोधकार्य में कितना ही परिश्रम क्यों न किया गया हो या विषय भी कितना ही रोचक क्यों न हो, यदि वह ठीक से न किया गया हो तो उसका समुचित प्रभाव शायद ही पड़े. अतः शोध सामग्री के प्रस्तुतीकरण याने प्रकाशन, संग्रह, क्रम और विप्रथन याने प्रसरण की समुचित व्यवस्था न हो तो यह कार्य प्रायः असम्भव सा ही समझा जाना चाहिए.

पुस्तकें

कोई भी विचार प्रस्तुत करने के लिए पुस्तक रूप सबसे अधिक प्रचलित ही नहीं, सर्वाधिक प्राचीन भी है. यहां पुस्तकों से हमारा अभिप्राय केवल प्रकाशित ही नहीं वरन् अप्रकाशित पुस्तकों एवं हस्तलिखित ग्रंथों से भी है जो अभी तक देश-विदेश में विविध भण्डार गृहों में रखे हुए हैं. यद्यपि आजकल अन्य रूपों में भी लिखित सामग्री मिलने लगी है, पुस्तक रूप (प्रकाशित रूप) अभी भी सर्वाधिक सुलभ एवं आम है, इतना अधिक कि अधिकांश शोधकर्ता किसी अन्य रूप के विषय में शायद सोच भी नहीं सकते.

पुस्तकें प्रायः इस रूप में जानी जाती हैं कि वे उनके लेखकों के कार्य एवं विचारों का विवरण होती हैं. अत्यन्त विशिष्ट पुस्तकें, जैसे कि शोध-ग्रंथ, भी किसी-न-किसी रूप में विवरण ही होते हैं, भले ही वे

एक बैठक में पढ़ने के लिए न लिखे गये हों. वैसे और भी कई प्रकार की पुस्तकें हैं जो लगातार पढ़ी जाने के लिए नहीं वरन् कोई सूचना मात्र या विषय-विशेष की जानकारी प्राप्त करने के लिए उपयोग में आती हैं. ऐसी पुस्तकों को सामान्यतः सन्दर्भ-ग्रंथ कहा जाता है. सन्दर्भ-ग्रंथों के सर्वाधिक प्रचलित रूप **शब्द-कोश** एवं **विश्व-कोश** से प्रायः सभी परिचित होंगे. हिन्दी शोध कार्य के लिए इनकी उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता. इन्हें तो वस्तुतः शोध-कार्य की दिशा में सीढ़ी का पहला पत्थर समझना चाहिए. कुछ भाषा-कोश एवं विश्व-कोश केवल विषय-विशेष, जैसे **हिन्दी** सम्बन्धी हैं और कुछ हिन्दी से मिलते-जुलते अन्य विषयों या हिन्दी सम्बन्धी विषयों के होते हैं, जैसे **हिन्दी साहित्य कोश** (धीरेन्द्र वर्मा), **हिन्दी उपन्यास कोश** (राम-गोपाल) या **निराला काव्य कोश** (जयनाथ नलिन).

किसी भी शोध कार्य के लिए सन्दर्भ-ग्रंथों का एक अन्य बहुत ही उप-योगी रूप है **ग्रंथ-सूची.** ग्रंथ-सूचो भी या तो केवल हिन्दी सम्बन्धी हो सकती है या हिन्दी से सम्बद्ध विषय की, जैसे **हिन्दी साहित्याब्द कोश** (देवेन्द्र नाथ शर्मा और राजगोपाल) और **हिन्दी के स्वीकृत शोध प्रबन्ध** (उदयभानु सिंह) या **हिन्दी नाट्य साहित्य ग्रंथ पुटी** (कृष्णाचार्य).

शोधकर्ताओं एवं उच्च कक्षाओं के छात्रों के लिए उपयोगी उपलब्ध पुस्तकों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है :

१. **शोध रिपोर्टें**
२. **समसामयिक घटनाओं एवं प्रवृत्तियों पर टीका-टिप्पणी**
३. **विचारों की अभिव्यक्ति**

शोध रिपोर्टें : शोध की यह प्रवृत्ति है कि वह क्रमशः आगे बढ़ता है. एक खोज से दूसरी खोज का पता चलता है और दूसरी से तीसरी का. इस प्रकार यह क्रम बढ़ता जाता है. समय-समय पर नई बातों की जानकारी होती है, नये विचारों की स्थापना होती है और शोधकर्ता अपने को अक्सर ऐसी स्थिति में पाते हैं कि उन्होंने अब तक जो कार्य किया है, उसे प्रकाशित कर सर्वसाधारण के लिए सुलभ कर दिया जाए और उस पर विशेषज्ञों का ध्यान आकर्षित कर उनकी प्रतिक्रिया ज्ञात की जाए. इसके लिए यह आवश्यक नहीं कि शोध कार्य पूरा हो चुका हो. इस प्रकार के शोध का परिणाम प्रायः एक **लेख** या **सम्पादक**

के नाम पत्र के रूप में पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होता है. अक्सर यह भी देखा गया है कि बाद में इस प्रकार के लेखों का संग्रह **पुस्तक** रूप में भी उपलब्ध हो जाता है. इन संग्रहों में कभी-कभी कुछ नई सामग्री भी होती है. मानविकी विषयों में हिन्दी भाषा एवं साहित्य के क्षेत्र में भी इस प्रकार के शोध परिणाम लेखों के रूप में पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते हैं. इस प्रकार के लेखों को प्रकाशित करने वाली पत्रिकाओं में **सम्मेलन पत्रिका, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, हिन्दुस्तानी** तथा बिहार से प्रकाशित होने वाली **परिषद पत्रिका** प्रमुख हैं. कुछ विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों से प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं में भी शोध रिपोर्टें एवं लेख प्रकाशित होते हैं. इस प्रकार की पत्रिकाओं में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से सम्बद्ध **हिन्दी परिषद** को **अनुसन्धान**, विश्वभारती (शान्ति निकेतन) की **विश्वभारती पत्रिका** तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय से सम्बद्ध **संकल्प** उल्लेखनीय हैं.

टीका टिप्पणी : ये लेख के रूप में भी हो सकती हैं तथा अपने आप में स्वतंत्र एक पुस्तक के रूप में भी. ये इस बात का दावा नहीं करतीं कि शोधकर्ताओं को उनसे किसी नयी बात की जानकारी मिलेगी. ये तो केवल इस बात का प्रयास हैं कि किसी विषय पर यत्र-तत्र जो सामग्री बिखरी पड़ी है उसे एक साथ एकत्र कर सुविधाजनक रूप में प्रस्तुत कर देना. अतः ऐसा कहा जा सकता है कि इनमें **संग्रहीत** सामग्री के विषय में बहुत से लोगों को पता होगा और प्रत्येक पाठक को इनमें संग्रहीत किसी-न-किसी सामग्री के विषय में कुछ-न-कुछ पता होगा. इन्हें केवल इस आशा के साथ प्रस्तुत किया जाता है कि कोई भी व्यक्ति इनमें वतलाई गई सभी बातों से अवगत नहीं होगा. और यह, भी कि किसी भी पुस्तक से प्रत्येक पाठक को कोई-न-कोई नई सूचना, भले ही वह नाम-मात्र की ही क्यों न हो, मिलेगी. इस प्रकार की कुछ पुस्तकें केवल इसलिए भी महत्वपूर्ण हो जाती हैं कि उनसे किसी एक मुख्य विषय, उप-विषय या विषयांग के किसी जाने हुए प्रश्न पर प्रकाश पड़ता है. लेखक उस विषय का माना हुआ विद्वान होता है, उसे उस विषय का विशेष ज्ञान होता है और अपनी बात स्पष्ट करने की उसकी अपनी विशेषता होती है.

विचारों की अभिव्यक्ति : इस प्रकार की कुछ पुस्तकें कभी-कभी स्थायी महत्व की बन जाती हैं, कुछ विशेष महत्वपूर्ण नहीं होतीं और अधिकांश तो बिलकुल ही व्यर्थ होती हैं. ऐसी पुस्तकों में **अधिकांशतः**

समसामयिक विषयों पर लेखकों के विचार होते हैं और ये लेखक समझते हैं कि अपने विचार व्यक्त कर वे रचनात्मक सहयोग दे रहे हैं. इस प्रकार के प्रकाशनों से अप्रत्यक्ष रूप से उनका उद्देश्य किसी विषय पर पाठकों के मत को किसी एक दिशा में प्रभावित करना भी होता है.

हिन्दी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में इधर पिछले कुछ वर्षों से एक नयी प्रकार की पुस्तकों की बाढ़ सी आई है जिन्हें हम **संकलन** कह सकते हैं. इनमें किसी एक विषय पर कई लेखकों के लेख संकलित कर पुस्तक रूप में प्रकाशित कर दिये जाते हैं. इन लेखों में से अधिकांश लेख पहले पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके होते हैं. पर हमारे देखने में कुछ ऐसे संकलन भी आये हैं जिनसे यह पता नहीं चलता कि कौन सा लेख कब-कहां प्रकाशित हुआ था. इधर जो संकलन निकले हैं, उनमें से कुछ निश्चय ही बहुत महत्वपूर्ण हैं और शोध कार्य के लिए उपयोगी हैं पर अधिकांश केवल 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा' मात्र बनकर रह गये हैं.

ये संकलन प्रायः दो प्रकार के होते हैं. प्रमुख विद्वानों द्वारा लिखे गये ऐतिहासिक महत्व के श्रेष्ठ निबंधों के संग्रह और अपने-अपने विषय के विद्वानों द्वारा उनके अपने विषय पर विशेष रूप से लिखवाये गये निबंध जो विषय की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डालते हैं. ये दोनों ही प्रकार के संकलन शोध के लिए उपयोगी हैं पर उनमें से कौन से उपयोगी हैं और कौन से नहीं, यह शोधकर्ता को स्वयं निर्णय करना चाहिए. कभी-कभो ये संकलन उपयोगी न होते हुए भी इनकी भूमिकाएं उपयोगी होती हैं. उनमें अक्सर विषय-विशेष का ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन होता है तथा संकलनकर्ता विषय की समसामयिक स्थिति पर भी प्रकाश डालता है.

किसी-किसी संकलन के अन्त में निबंध लेखकों का संक्षिप्त-परिचय भी रहता है. इससे लेखक की अपने विषय में स्थिति और पैठ का पता चलता है.

पैम्फलेट

पैम्फलेट अक्सर बेकार की चीज कहकर टाल दिये जाते हैं और शोध की दृष्टि से ये कितने उपयोगी हो सकते हैं या हैं, इस पर अभी तक विचार नहीं किया गया है. इसका एक कारण शायद यह भी है कि पुस्तकालयों में ये प्रायः होते ही नहीं, और अगर होते भी हैं तो

पुस्तकाधार पर पुस्तकों के समान नहीं रखे रहते . पतले होने के कारण ये पुस्तकाधार पर रखे नहीं जा सकते अतः इन्हें पुस्तकों से अलग बाक्सों में रखा जाता है. इसका एक परिणाम यह होता है कि ये जल्दी पाठकों की दृष्टि में नहीं आते. कुछ पाठकों को तो इनके विषय में कुछ भी पता नहीं रहता और जिन्हें पता रहता भी है, वे भी प्रायः आलस्यवश एक जगह से दूसरी जगह जाकर उन्हें खोजना पसंद नहीं करते.

पाठकों को इनके विषय में पता नहीं रहने का एक कारण यह भी है कि प्रायः पुस्तकालयों के सूचीपत्रों में इनका अस्तित्व नहीं दिखाई देता क्योंकि पुस्तकालय के कर्मचारी भी इन्हें बेकार की झंझट और सूचीकरण की दृष्टि से कठिन कार्य समझते हैं. ऐसी स्थिति में या तो सूचीपत्रों में इनकी सूचना आने ही नहीं पाती और यदि आती भी है तो महीनों ही नहीं, कभी-कभी कई वर्षों बाद, जब सभी पैम्फलेटों को एकत्र कर एक साथ सूचीकरण किया जाता है. जब तक इनका सूचीकरण नहीं हो जाता, तब तक ये पुस्तकालयों के एक कोने में प्रायः कूड़े के समान पड़े रहते हैं.

पैम्फलेटों की एक विशेषता यह है कि पुस्तकों की अपेक्षा छोटे होने के कारण इनकी छपाई आदि में बहुत ही कम—वस्तुतः नाम-मात्र का व्यय होता है. इस कारण बहुत सी संस्थाएं एवं लेखक, जो किसी विषय पर अपना अभिमत देना चाहते हैं, उन्हें पैम्फलेटों के रूप में प्रकाशित करते हैं. प्रसिद्ध अंग्रेज समीक्षक **एफ० आर० लीविस** और लेखक **लार्ड स्नो** (**सी०पी० स्नो**) ने अक्सर अपने विचार पहले पैम्पलेटों के रूप में व्यक्त किये थे. भारत में भी राजनीतिक और धार्मिक ही नहीं, साहित्यिक संस्थाओं ने भी इन्हें अपने हथियारों के रूप में समय-समय पर अपनाया है. **देव-बिहारी विवाद** पहले पत्र-पत्रिकाओं में लेखों के रूप में शुरू हुआ था, फिर पैम्फलेटों के रूप में और अंत में संग्रह के रूप में पुस्तकाकार. अंग्रेजी में **सी० पी० स्नो** ने अपना प्रसिद्ध विवाद दो **संस्कृतियां** (**टू कल्चर्स**) पहले **टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट** में एक लम्बे लेख के रूप में शुरू किया था. बाद में वह पैम्फलेट के रूप में और अन्त में उत्तर-प्रत्युत्तर के साथ पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ. हिन्दी में भी यद्यपि पैम्फलेटों में व्यक्त विचार कभी-कभी बाद में पुस्तक रूप में प्रकाशित होते हैं, अधिकांश पैम्फलेट स्थायी नहीं हो पाते. थोड़े समय बाद लोग उन्हें भूल जाते हैं और बाद में पता भी नहीं चल पाता कि कभी कोई ऐसा पैम्फलेट निकला भी था. कुछ

पैम्फलेट पुस्तक रूप में प्रकाशित न होने के बावजूद स्थायी महत्व के बन जाते हैं और उनमें व्यक्त विचार किसी विषय का इतिहास या उस विषय पर अधिकारी विद्वानों के विचार जानने के लिए बहुत महत्वपूर्ण होते हैं. पैम्फलेटों का उद्देश्य चूंकि अधिक-से-अधिक पाठकों तक लेखकों के विचार पहुँचाना होता है, उनकी भाषा प्रायः अत्यन्त सुलझी हुई और सामान्य पाठकों की समझ में आने वाली होती है.

सभा-सोसायटियों के अधिवेशनों में उद्घाटन आदि के अवसर पर विद्वानों को बुलाने की प्रथा है. उस अवसर पर वे जो **भाषण** देते हैं उन्हें भी अक्सर पैम्फलेटों के रूप में प्रकाशित किया जाता है और कभी-कभी देखने में आता है कि वे केवल इसी रूप में ही प्राप्य रहते हैं और कभी भी पुस्तक या संकलन रूप में नहीं आ पाते. अतः उन्हें प्राप्त करने के लिए सम्बन्धित सभा-सोसायटी से ही सम्पर्क करना चाहिए. चूंकि इन भाषणों में व्यक्त विचार वक्ता के अपने होते हैं और वक्ता अपने विषय का विशेषज्ञ होता है अतः शोधकार्य में उनकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए.

पैम्फलेट रूप में समय-समय पर तरह-तरह के प्रलेख भी प्रकाशित होते हैं. **संसद के बिल, वेतनमान, कमेटी-कमीशन (आयोगों) की रिपोर्ट, आंकड़े** आदि ऐसी बहुत सी सामग्री हैं जो केवल पैम्फलेट रूप में प्रकाशित होती हैं. शोध कार्य में इनका अपना अलग महत्व रहता है क्योंकि इनमें अक्सर ऐसी सूचनाएं रहती हैं जो सामान्यतया अन्यत्र नहीं मिल पातीं. कुछ सीरीज भी पैम्फलेट रूप में प्रकाशित होती हैं.

रिपोर्ट

शोध कार्य में रिपोर्टों के महत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता. विषय-वस्तु तथा विस्तार के अनुसार वे या तो पुस्तक रूप में प्रकाशित की जाती हैं या पैम्फलेट रूप में.

रिपोर्ट दो तरह की होती हैं. एक तो वे जिनमें किसी **संस्था की कार्यवाही आदि का विवरण** रहता है. इस वर्ग में संस्थाओं की वार्षिक **रिपोर्ट** और उनके **अधिवेशन, सम्मेलन** आदि **की रिपोर्ट** भी आ सकती हैं. प्रायः सभी **प्रकार** की संस्थाएं अपनी वार्षिक रिपोर्ट प्रकाशित करती हैं. **हिन्दी साहित्य सम्मेलन, नागरी प्रचारिणी सभा,** बिहार **राष्टभाषा परिषद** जैसी संस्थाओं की वार्षिक रिपोर्टों के महत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता. यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि

कभी-कभी इन संस्थाओं की रिपोर्टों से ऐसी जानकारी भी मिल जाती है जिनका उस विषय से सीधा सम्बन्ध नहीं रहता.

दूसरी प्रकार की रिपोर्टें वे होती हैं जिनको **संस्थाएं केवल निजी उपयोग के लिए तैयार कराती हैं** और वे या तो अप्रकाशित रहती हैं या यदि प्रकाशित भी होती हैं तो उनका वितरण केवल संस्थाओं के सदस्यों तक ही सीमित रहता है. प्राइवेट रूप से वितरण की जाने वाली, याने केवल संस्थाओं के सदस्यों तक ही सीमित रहने वाली रिपोर्टें प्रायः पुस्तकालयों तक नहीं पहुंच पातीं. अतः उन्हें प्राप्त करने के लिए या तो संस्था के कार्यालय/पुस्तकालय से सम्पर्क करना चाहिए या फिर उन्हें संस्था के किसी सदस्य से प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए.

यह भी देखा गया है कि कुछ संस्थाएं अपनी रिपोर्टें मुद्रित न कराकर साइक्लोस्टाइल या 'डुप्लीकेट' कराकर प्रकाशित करती हैं. इस प्रकार उनका प्रसार संस्था से बाहर तो हो जाता है पर इतने व्यापक रूप में नहीं जितना कि होना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार प्रकाशित की जाने वाली रिपोर्टों की प्रतियों की संख्या प्रायः सीमित ही रहती है.

इस प्रकार के प्रकाशन से दो हानियाँ हैं. एक तो यह कि इनका प्रकाशन उस स्तर का नहीं हो पाता जैसा कि होना चाहिए. दूसरी यह कि सामान्य प्रकाशन जगत में उनकी सूचना नहीं पहुंच पाती जिसके परिणाम-स्वरूप बहुत से लोगों को उनके विषय में कुछ पता ही नहीं चल पाता. ग्रंथ-सूचियों में उनकी प्रविष्टि नहीं होने से पुस्तकालयों को उनकी सूचना नहीं रहती और चूंकि इस प्रकार के प्रकाशन प्रायः विक्रय के लिए नहीं होते, अतः पुस्तक-विक्रेताओं को भी उनकी सूचना नहीं रहती. परिणाम यह होता है कि जिन थोड़े से लोगों को उनका पता रहता है, वे कभी-कभी उनका उल्लेख अपने निबन्धों, शोध कार्यों आदि में आवश्यकतानुसार कर देते हैं (इन उल्लेखों में रिपोर्टों के विषय में पूरी सूचना भी नहीं रहती) और फिर पाठकों द्वारा उनकी खोज शुरू हो जाती है. यद्यपि ऐसी रिपोर्टों में अधिकांश निश्चय ही बेकार होती हैं, फिर भो शोधकार्य के लिए जो उपयोगी होती हैं उन्हें देखने के लिए सभो को देखना आवश्यक हो जाता है.

पत्र-पत्रिकाएं

शोधकार्य में पत्र-पत्रिकाओं की उपयोगिता असंदिग्ध है. हमारे विचार से इनका महत्व एवं उपयोगिता पुस्तकों से भी अधिक है, क्योंकि इनसे

किसी विषय की सम-सामयिक गतिविधियों एवं उस पर नवीनतम विचारों का ज्ञान होता है. जो व्यक्ति अपने विषय की वर्तमान स्थिति से अवगत रहना चाहता है उसे सभी प्रकार की अधिक-से-अधिक पत्रिकाएं देखते रहना चाहिए. शोधकर्ताओं के लिए तो यह और भी अधिक आवश्यक है.

पैम्फलेटों के समान ही पत्र-पत्रिकाओं के रख-रखाव की भी अपनी अलग समस्याएं होती हैं. इसलिए नहीं कि पैम्पलेटों के समान ये भी प्रायः पतली होती हैं अतः पुस्तकाधार पर पुस्तकों के समान नहीं रखी जा सकतीं, वरन् इसलिए कि एक ही पत्रिका के सभी अंक प्रायः एक साथ फाइल में रखे जाते हैं या कभी-कभी उन्हें पुस्तक रूप में जिल्द में भी कर लिया जाता है. पत्रिका के प्रत्येक अंक में कई लेख होते हैं जो प्रायः अलग-अलग विषयों पर होते हैं. अतः जैसा कि प्रायः देखा जाता है, पुस्तकालयों में एक ही विषय की पुस्तकें तो साथ-साथ रखी जाती हैं, पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित एक ही विषय के लेखों को साथ-साथ नहीं रखा जा सकता. ऐसी स्थिति में किसी एक विषय पर प्रकाशित लेखों की जानकारी के लिए पत्रिका की सूची देखना आवश्यक हो जाता है. पर हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं के क्षेत्र में अभी इस प्रकार की सूचियों का अभाव है.

हमें पता नहीं कि किसी एक भी हिन्दी पत्रिका की पूरी सूची (अनुक्रमणिका) उपलब्ध है. कुछ हिन्दी पत्रिकाएं अब अपनी वार्षिक सूची प्रत्येक वर्ष के अन्तिम अंक में देने लगी हैं पर इससे भी शोधकर्ताओं को कोई विशेष लाभ नहीं होता. ये सूचियां केवल लेखक या लेख के शीर्षक की सूचना देती हैं, लेख के विषय की नहीं. अतः शोधकर्ताओं को पत्रिका की पूरी सूची देखनी पड़ती है और उसके बाद भी यह आवश्यक नहीं कि जो सूचना वे चाहते हैं वह उन्हें मिल ही जाएगी. जैसे, किसी पत्रिका में कोई लेख प्रकाशित हुआ जिसका शीर्षक है **ऊब का महाग्रन्थ**. यदि किसी शोधकर्ता ने यह लेख पहले कभी पढ़ा हो या किसी ने उसे बतलाया हो कि इस लेख का विषय क्या है, तब तो उसे कोई मुश्किल नहीं होगी. पर यदि उसे इस लेख के विषय में कोई जानकारी नहीं है और वह यदि हिन्दी में व्यंग्य साहित्य या इसी से मिलते-जुलते किसी विषय पर शोध कर रहा है, तो वह इस लेख का उपयोग करने से वंचित रह जाएगा क्योंकि यह संज्ञा **श्रीपत राय** ने **श्रीलाल शुक्ल** के उपन्यास **राग दरबारी** को दी है.

पत्र-पत्रिकाएं कई प्रकार की होती हैं, यथा शोध पत्रिकाएं, लोकप्रिय पत्रिकाएं, समाचार पत्रिकाएं, साहित्यिक पत्रिकाएं तथा संस्थाओं की अपनी पत्रिकाएं. शोध कार्य में इन सभी प्रकार की पत्रिकाओं का अपना अलग-अलग महत्व है.

शोध पत्रिकाओं में प्रायः बहुत ही गम्भीर विषयों पर उच्च कोटि के गवेषणात्मक निबन्ध प्रकाशित होते हैं. ये निबन्ध या तो शोधकर्ताओं एवं विशेषज्ञों द्वारा विशेष रूप से प्रकाशन के लिए लिखे जाते हैं या फिर वे संस्थाओं की बैठकों, अधिवेशन आदि में पढ़े हुए निबन्ध होते हैं. इनके सम्बन्ध में यह हमेशा खयाल रखना चाहिए कि इनकी भाषा शैली गम्भीर और सामान्य पाठक के लिए प्रायः दुरूह होती है. नये शोधकर्ता, या जिन्हें अभी शोध का अधिक अनुभव नहीं है, के लिए भी ये निबन्ध कठिन प्रतीत हो सकते हैं. पर जैसा कि हमने पहले बतलाया है, ये निबन्ध जन-सामान्य के लिए नहीं होते. ये प्रायः विशेषज्ञों द्वारा विशेषज्ञों के लिए ही लिखे गये होते हैं.

इस प्रकार के निबन्ध प्रायः विद्वत् संस्थाओं की पत्रिकाओं में ही प्रकाशित होते हैं. चूंकि किसी भी विषय की प्रगति उसमें किये गये अच्छे शोध पर निर्भर रहती है और विद्वत् संस्थाओं को अपनी पत्रिकाओं का स्तर बनाये रखना होता है अतः यह समझ लेना चाहिए कि इन पत्रिकाओं में जो लेख प्रकाशित होते हैं वे केवल अत्यंत उच्च स्तर के ही नहीं होते वरन् इस बात को भी ध्यान में रखकर लिखे जाते हैं कि वे सम्बन्धित विषय की प्रगति में कुछ योगदान दे सकें. **हिन्दुस्तानी, सम्मेलन पत्रिका** और **नागरी प्रचारिणी पत्रिका** आदि कुछ ऐसी पत्रिकाएं हैं जिनमें इस प्रकार के निबन्ध मिलेंगे.

जो कार्य विशेषज्ञों के लिए शोध-पत्रिकाएं करती हैं वही कार्य जन-साधारण के लिए लोकप्रिय पत्रिकाएं (यथा **कादम्बिनी**, **सारिका**, आदि) करती हैं. ऐसी पत्रिकाएं बहुत हैं और इनमें प्रायः अनुभवी एवं अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखे गये लेख प्रकाशित होते हैं. इनमें प्रकाशित सम्पादकीय विवेचना, टिप्पणियां, सम्पादक के नाम पत्र तथा लेख आदि सभी की भाषा ग्राह्य एवं जल्दी समझ में आने वाली होती है.

समाचार-पत्रिकाओं का भी शोध कार्य में अपना अलग महत्व है. **दिनमान**, **रविवार**, **अवकाश** तथा **दैनिक पत्रों के रविवार अंक** या **साहित्य परिशिष्ट** इस वर्ग में आते हैं. इनमें समसामयिक समाचारों

पर टिप्पणी एवं विवेचनात्मक लेखों के अतिरिक्त विविध विषयों पर भी समय-समय पर लेख प्रकाशित होते हैं. **दिनमान** और **रविवार** में हमने कई ऐसे लेख देखे हैं जो अलग-अलग विषय के शोध कार्य में बहुत उपयोगी हो सकते हैं. इन पत्रों में कभी-कभी विशिष्ट लेख के रूप में किसी विषय पर **सर्वाङ्गीण** लेख भी प्रकाशित होते हैं जो बाद में स्थायी महत्व के बन जाते हैं. ये लेख 'सर्वाङ्गीण' इस अर्थ में कहे जा सकते हैं कि उनमें उस विषय का पूरा लेखा-जोखा देने का प्रयत्न किया जाता है. इस प्रकार के लेख प्रकाशित करने में **धर्मयुग** और **साप्ताहिक हिन्दुस्तान** ने भी कई बार पहल की है.

दैनिक पत्रों के रविवार विशेषांक या साहित्य परिशिष्ट में भी प्रायः अलग-अलग विषयों पर सरल भाषा में लेख प्रकाशित होते हैं. किसी भी विषय पर समसामयिक गतिविधियों से परिचित कराने वाले लेख भी इनमें प्रकाशित होते हैं और किसी विषय पर वाद-विवाद शुरू कराने वाले भी. अतः शोध कार्य में इनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए.

संस्थाओं से प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं में जो गम्भीर एवं गवेषणात्मक लेख प्रकाशित होते हैं, उनके सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है. इन पत्रिकाओं में इस प्रकार के लेखों के अतिरिक्त कभी-कभी संस्थाओं की वार्षिक रिपोर्ट, गतिविधि एवं भावी प्रवृत्तियों, आदि की सूचना भी प्रकाशित होती हैं. अतः शोधकार्य में इस दृष्टि से भी इनका महत्व है.

● ●

क्या यह कविता का अंतिम चरण है ?

मूर्त काव्य

कविता की परिभाषा करते हुए १६२० में कुर्त स्विर्त्स ने कहा था कि अक्षर, शब्द और वाक्य—ये कविता के तत्व हैं और इन तत्वों की अन्योन्य वृत्ति से कविता बनती है. पांचवें दशक में कला के अन्य रूपों के समान मूर्त काव्य (कांक्रीट पोइट्री) के सम्बन्ध में कहा गया कि 'वह अपने आप में और स्वयं ही एक वस्तु है. उसका सम्बन्ध ऐसे संचार रूपों से है. जो सामान्य संवाद-संचार से परे हैं.' मूर्त काव्य के सम्बन्ध में यह उद्धरण लिया गया है उसके जन्म स्थान ब्राजील के तीन कवियों की उस विज्ञप्ति से, जो उन्होंने मूर्त काव्य के सम्बन्ध में प्रकाशित कर देश-विदेश में साहित्यिकों, सम्पादकों ओर साहित्य में रुचि रखने वालों को भेजी थी.

मूर्त काव्य सुचिन्तित स्थान को संरचनात्मक आधार मान कर चलता है, इसलिए शब्द और आकार सन्निहित किये जा सकते हैं, पर केवल एक दूसरे का सम्बन्ध स्थापित करने के रूप में ही नहीं. वे पूरे पृष्ठ पर किसी भी रूप में मिला-जुला कर भी रखे जा सकते हैं. इस प्रकार काव्य में 'स्थान' (स्पेस) का प्रवेश, जो अब तक केवल तुकांत और अतुकांत पंक्तियों के रूप में ही माना जाता रहा है, एक नये आयाम का जन्मदाता बन गया. इसने केवल व्याकरण और भाषागत अनिवार्यता का बहिष्कार ही नहीं किया वरन् यह भी बतलाया कि साहित्य विज्ञान से अछूता नहीं रह सकता. विज्ञान के सहयोग से साहित्यिक विधाओं का अपना एक ऐसा रूप बन जाता है, जो पिछले परम्परागत रूपों से भिन्न पूर्णतः अधुनातन है.

जो कुछ भी हो, यह तो एक मानी हुई बात है कि काव्य, चाहे वह लिखा हुआ हो या छपा हुआ, साहित्य की अन्य विधाओं के विपरीत

अब तक अपने दृश्य रूप एवं प्रभाव के कारण ही अलग समझा जाता रहा है. अधिकांश मूर्त काव्य भी भाषा के सरलीकरण से अपने इसी दृश्य-प्रभाव को एक कदम और आगे ले जाकर उसकी दृश्य संभावनाओं का इस सीमा तक या इतना अधिक प्रयोग करता है कि उसके लिए पृष्ठ केवल एक ऐसे फ्रेम का कार्य करता है, जिसमें शब्दाकृतियां विविध रूपों में बनी हुई हों.

परम्परागत कविता सामान्यतः पृष्ठ की सीमा और सपाट सतह से बंधी हुई होती है. इससे एक लाभ यह अवश्य होता है कि एक दृष्टि में पूरी कविता सामने देखी जा सकती है. पर यह भी केवल एक दिशा तक सीमित रहता है. गत्यामत्क और मूर्त काव्य ने इस एक दिशा का सीमा विस्तार कर उसे त्रिआयामी रूप दिया है. उदाहरणतः टाइप-राइटर पर लिखी गयी सामान्य कविताओं से **होडार्ड** की टाइपराइटर पर लिखी कविताएं अपने ढंग की अलग कुछ ऐसी हैं कि उन्हें देखकर पहले तो ऐसा जान पड़ता है मानो किसी बच्चे ने उन्हें टाइप किया हो या टाइप करते-करते कोई 'की' किसी एक जगह अड़ गयी हो, जिससे कागज पर वही 'की' बार-बार टाइप होती रही. इसी कारण एक ही अक्षर दस, बीस या पचास बार नहीं वरन् सैकड़ों बार टाइप हो गया और उनसे अनजाने ही एक ऐसी आकृत बन गयी, जो देखने में विलक्षण और गूढ़ अर्थ लिये हुए है. जो दर्शक (या पाठक) यह गूढ़ अर्थ समझ सकता है, उसके लिए वह गत्यात्मक मूर्त कविता है, पर अन्य लोगों के लिए बच्चे का खेल.

पाठ्य काव्य और दृश्य काव्य में यही अंतर है. दृश्य काव्य के क्षेत्र में कुछ प्रयोग पिछले कुछ वर्षों में हिन्दी में भी हुए हैं, पर वे पत्र-पत्रिकाओं की सीमा से बाहर नहीं निकल सके. विदेशों में इस सीमा के बाहर दृश्य काव्य के जो प्रयोग हुए हैं, उन्हें गत्यात्मक और मूर्त काव्य कहा गया है. मूर्त काव्य बिम्बों, उपमानों एवं संगीत ध्वनियों द्वारा चमत्कार एवं वैचित्र्यपूर्ण आघात करता है.

एमेट विलियम्स की एक पुस्तक है—**स्वीट हार्टस.** इस पूरी पुस्तक में शीर्षक के ११ अक्षरों में से केवल ७ अक्षर लेकर प्रत्येक पृष्ठ पर ऐसे अलग-अलग रूपों की रचना की गयी है, प्रत्येक पृष्ठ पर अक्षरों का इतना प्रस्तार किया गया है कि पुस्तक के पृष्ठों को अंधाधुंध कहीं भी खोल देने पर उस पृष्ठ विशेष का सम्बन्ध पुस्तक के प्रत्येक अन्य पृष्ठ से हर बार नये रूप में स्थापित किया जा सकता है.

इस प्रकार के दृश्य काव्य और मूर्त काव्य के अस्तित्व को कहां तक स्वीकारा जा सकता है ? यह प्रश्न शुरू से परम्परावादी, अमूर्त कवियों एवं आलोचकों के सामने उपस्थित रहा है. उनके नकारने का मुख्य कारण यह रहा है कि साहित्य प्रारंभ से चिन्तन का विषय रहा है न कि दर्शन का. भाषा एवं लिखित शब्दों की अब तक चली आ रही सीमा को आगे बढ़ा कर कला के साहचर्य से इन मूर्त कवियों ने भले ही नये-नये प्रयोग किये हैं और इन प्रयोगों के अस्तित्व, इन नये आयामों से इन्कार नहीं किया जा सकता; पर इन प्रयोगों को काव्य या साहित्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता.

पर जनवरी-फरवरी, १९६९ में ब्रिटेन की **पोइट्री सोसायटी** की हीरक जयंती के अवसर पर लंदन के रायल फेस्टिवल हाल में काव्य-रूपों की जो सर्वतोमुखी प्रदर्शनी हुई थी, उसमें कविता के दृश्य, श्रव्य एवं मूर्त रूपों का समावेश इस बात का द्योतक है कि मूर्त काव्य को साहित्य के इतिहास में स्थान मिल चुका है तथा समसामयिक कविता सम्बन्धी कोई भी विवरण, चर्चा या पुस्तक इन रूपों के उल्लेख के बगैर अधूरी ही समझी जाएगी.

पोइट्री सोसायटी द्वारा आयोजित उक्त प्रदर्शनी का जो परिचयात्मक विवरण-पत्र वितरित किया गया था, उसमें आयोजकों ने कविता का सीमा-विस्तार स्वीकारते हुए लिखा था : स्पष्टतः इस प्रदर्शनी में रखी गयी कुछ 'चीजें' शब्द की सीमा से परे हैं. कुछ तो अक्षर की सीमा से भी परे हैं. पर क्या शब्दों एवं अक्षरों के अतिरिक्त अन्य प्रतीकों में कविता नहीं रह सकती ? मूर्त काव्य कविता को एक ऐसी वस्तु के रूप में देखता है, जो पढ़ी जाने की अपेक्षा देखी और समझी जानी चाहिए. काव्य का स्वरूप अब इतना व्यापक हो चुका है कि उसने मूर्त शब्द को उसकी अब तक की संकीर्णता से दूर ला कर उसे एक नया अर्थ दिया है. यों भी कहा जा सकता है कि काव्य ने 'मूर्त' शब्द कला से छीन लिया है. 'मूर्त' शब्द का प्रयोग अब तक सामान्यतः भवन निर्माण तथा वस्तु एवं शिल्प कलाओं के क्षेत्र में ही किया जाता रहा है, पर अब उसका साहित्य, विशेषकर काव्य, के क्षेत्र में प्रवेश साहित्य के एक नये आयाम की ओर ध्यान दिलाता है. बराबर ऐसा कहा जाता रहा है कि कला में सभी सीमाएं अपनी सीमा खो बैठती हैं. इस प्रदर्शनी में रखी कुछ वस्तुएं कविता की अपेक्षा चित्रकला, फोटोग्राफी, शिल्पकला या मुद्रण कला के नमूने अधिक उपयुक्तता से

मानी जा सकती हैं. पर काव्य क्या है ? जिसकी कवि रचना करता है. अतः इन कृतियों को दर्शक यदि काव्य न मान कर कुछ और माने, तो इससे उनके कवियों को कोई आपत्ति नहीं होगी.

मूर्त काव्य को विश्व की सबसे बड़ी काव्य संस्था **पोइट्री सोसाइटी** का इतना जोरदार प्रमाणपत्र मिल जाने के बाद उसे शंका की दृष्टि से देखने और उस ओर उंगली उठाने का कोई तुक नहीं रह जाता. मूर्त काव्य तैयार करने में कवि को उसी प्रकार आनंद-लाभ होता है, जिस प्रकार परम्परागत काव्य लिखने में किसी अन्य कवि को. अतः मूर्त काव्य के दर्शक (पाठक) से भी आशा की जाती है कि उसे भी उससे आनन्द एवं हर्ष होगा. और यदि किसी को कोई कृति अमर्यादित जान पड़े, तो कभी-कभी अमर्यादित हो जाना भी शायद अच्छा ही है. और यदि कोई दर्शक सोचे कि 'इसमें क्या है, इसे तो कोई भी बना सकता है' तो यह भी अच्छा ही है. हमें यह मानने में हिचक नहीं होनी चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति कवि है. आखिर क्यों न हो !

काव्य एक प्रकार का खेल है. ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार जीवन भी एक खेल है. चूंकि सभी लोग जीवन जीते हैं और वह भी अपने अलग-अलग ढंग से, अतः सभी लोग काव्य भी लिख, पढ़ या 'बना' सकते हैं. कविता, पोस्टर, पोस्टर-कविता, मूर्त काव्य, यंत्र काव्य, त्रिआयामी काव्य, तुकांत काव्य और अतुकांत काव्य—ये सभी काव्य रूपी खेल के विविध प्रकार हैं. मूर्त काव्य देख कर हमें जो सुख मिलता है, उसे साहित्य-कला का उपभोग करने का सामान्य सुख कहा जा सकता है और यह सुख ऐसा होता है जिससे कुछ संतुष्टि भी होती है.

□ □

आलोचकों को यदि किसी बात में सबसे अधिक आनंद आता है, तो वह है कोई नया आंदोलन. अतः कविता का यह नवीनतम आंदोलन (वाद) उसके जन्म से अब तक—लगभग ३० वर्ष तक—यदि हिन्दी आलोचकों की दृष्टि से छिपा रहा या हिन्दी जगत में यदि इसकी कोई चर्चा नहीं हुई, तो यह निश्चय ही आश्चर्य की बात है.

मूर्त काव्य आंदोलन सही माने में एक अंतर्राष्ट्रीय और शायद भावी साहित्यिक विधा को महत्वपूर्ण मोड़ देनेवाला एक विशिष्ट आंदोलन है. लगभग ३० वर्ष पूर्व ब्राजील से प्रारम्भ हो कर अब तक यह उत्तरी अमरीका होता हुआ पूरे यूरोप में केवल फैला ही नहीं है, वरन् वहां

अपनी मान्यता भी स्थापित करा चुका है. अंग्रेजी, जर्मन और स्पेनिश भाषाओं में मूर्त काव्य के अब तक दो दर्जन से अधिक संग्रह और पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं. यह आंदोलन किस तीव्र गति से ब्राजील से बाहर फैला है, उसका पता **एमेट विलियम्स** द्वारा संकलित **एन एंथालॉजी आफ कांक्रीट पोइट्री** से हो सकता है, जिसमें १९ देशों के ७५ कवियों की मूर्त कविताएं संग्रहीत की गयी हैं. भौगोलिक दृष्टि से इन ७५ कवियों का विस्तार अमेरिका से लेकर एशिया, यूरोप और लौह आवरण के पीछे के देशों तक है. कई देशों में वहां की साहित्यिक लघु पत्रिकाओं में भी मूर्त कविताएं प्रकाशित हुई हैं.

मूर्त काव्य प्रसंकर कला है. उसे काव्य कहा जाता है, पर वह उस माने में काव्य नहीं है, जिससे अभी तक हम परिचित रहे है. वस्तुत: उसे काव्य, चित्रकला, फोटोग्राफी, बिंदुरेखीय रचना (ग्रैफिक डिजाइन) और मुद्रण कला का सम्मिलित रूप कहा जा सकता है. वह साहित्य की एक ऐसी विधा है, जिसमें मान्य एवं स्थापित लेखकों-कवियों ने शायद ही प्रयोग किये हों. **एमेट विलियम्स** के जिस संकलन का उल्लेख पहले किया गया है, उसमें चित्रकारों, शिल्पियों, वास्तुकारों, व ीलों, गणितज्ञों और नाटककारों की रचनाएं भी हैं. उसमें संग्रहीत ७५ कवियों में से केवल ५-६ ही ऐसे हैं जिन्हें परम्परागत कवि के रूप में जाना जाता है.

प्रश्न हो सकता है कि इस नयी विधा को मूर्त ही क्यों कहा गया ? ब्राजील के कवियों के लिए, जो इस आंदोलन के जनक कहे जाते हैं और जिन्होंन १९५५ में इसे यह नाम दिया था, यह शब्द उनकी प्रेरणा एवं गुरु **मेक्स बिल** के चित्रों एवं शिल्पकला का प्रतीक है. १९५८ में उन्होंने मूर्त काव्य का जो घोषणा पत्र (पाइलट प्लान) प्रकाशित किया था, उसका सारांश यही था कि मूर्त काव्य अपने आप में और स्वयं द्वारा बनायी गयी वह वस्तु है, जो बिंदुरेखीय माध्यम से तैयार की गयी हो. इसके विपरीत जर्मन मूर्त कवियों के गुरु **मेक्स बेन्स** के अनुसार मूर्त शब्द का प्रयोग अमूर्त (ऐब्स्ट्रैक्ट) के विरोधी रूप में किया गया है, क्योंकि बिना पदार्थ के मूर्त का अस्तित्व नहीं. या यों कहा जा सकता है कि मूर्त काव्य वह सामान्य चीज है, जिसे विशेष बना दिया गया है. पर जैसा कि मूर्त काव्य सम्बन्धी चित्रों को देखने से पता चलेगा, उक्त दोनों ही परिभाषाओं को वर्तमान मूर्त कवियों ने मान

कर मूर्त-काव्य को उन्होंने कुछ और भी आयाम दिये हैं, उन्होंने इसका अर्थ विस्तार कर मूर्त काव्य के कुछ अप्रत्याशित प्रयोग किये हैं.

साधारणतः यों माना जा सकता है कि इस प्रकार की कविताओं को मूर्त इसलिए कहा गया कि ये कविताएं भौतिक पदार्थों के रूप में हैं. उन्हें पत्थर पर खोदा जा सकता है, लकड़ी पर गढ़ा जा सकता है, कांच और प्लास्टिक पर लिखा जा सकता है या केवल अक्षरों और शब्दों को अलग-अलग तैयार कर उन्हें ऊपर से लटकाया जा सकता है.

मूर्त काव्य सामान्यतः दृश्य काव्य होता है. पर इतना ही नहीं, उसमें प्रयुक्त शब्दों और अक्षरों का उसके आकार-प्रकार से अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रहता है. उसमें प्रयुक्त शब्द किसी वस्तु के प्रतीक होते हैं तथा जिन वस्तुओं का उसमें प्रयोग किया जाता है, वे शब्दों की पूरक होती हैं. अतः किसी भी मूर्त कविता का आकार दर्शकों पर इतना अधिक और इस रूप में प्रभाव डालता है, जितना और जैसा सामान्य कागज पर लिखी या छपी हुई कविता का नहीं होता.

वैसे देखा जाए, तो पहले भी कुछ कवियों ने इस प्रकार की कविताएं लिखी हैं, जिनसे पाठकों का ध्यान एकाएक उनकी ओर आकर्षित हो जाए. **डायलन टामस** और **ई. ई. कमिंग्स** की कुछ कविताएं भी इसी प्रकार की हैं. हिन्दी में भी **ज्ञानोदय** के जून १९६८ के अंक में इसी प्रकार की एक कविता प्रकाशित हुई थी. पर इन कवियों ने मूर्त विशेषण से परे अनजाने ही वे कविताएं लिखी हैं. इस प्रकार की कविताएं दृश्य रूप में पाठकों को जितना प्रभावित करती हैं, उतना पाठ्य रूप में नहीं. और इस प्रकार के प्रयोग अभी तक केवल साहित्य में ही किये जाते रहे हैं, जहां शब्द पहले आते हैं तथा उनका रूप बाद में.

पर मूर्त कविता में वस्तु पहले आती है, शब्द या कविता बाद में. दूसरे शब्दों में कहा जाए तो दर्शक पर पहला प्रभाव कविता के रूप का पड़ता है. उसके बाद वह उसमें प्रयुक्त शब्दों को देख कर उनका अर्थ निकालने की कोशिश करता है. इस प्रक्रिया में दर्शक की आंखें एक नयी दृष्टि प्राप्त कर फिर आकृति की ओर लौटती हैं.

मूर्त काव्य को आप चाहे जिस दृष्टि से देखें, यह तुरंत ही स्पष्ट हो जाता है कि उसमें कविता की अपेक्षा वस्तु का महत्व अधिक होता

है. या यह कहा जाए कि उसमें किसी शब्द के शाब्दिक अर्थ का उतना महत्व नहीं होता, जितना उस वस्तु विशेष द्वारा शब्दों से ग्रहण किये गये अर्थ का. कोई पदार्थ शब्दों का किस रूप में उपयोग करता है, पदार्थ और शब्दों का सम्बन्ध किस रूप में स्थापित किया जाता है, यह बात ही मूर्त काव्य का मुख्य आधार है इस प्रकार मूर्त काव्य एक प्रकार से शब्दों का चित्र रूप बन जाता है.

उदाहरणतः **हेमिल्टन फिनले** की एक कविता है—कांच के एक खड़े टुकड़े पर कई बार टेढ़े-मेढ़े रूप में एक दूसरे के नीचे लिखा गया शब्द 'स्टार'. नीचे पहुंचते-पहुंचते यह शब्द बदलकर 'स्टीअर' हो जाता है. एक ऐसी वस्तु के रूप में जिससे नेत्रों को शांति एवं सुख मिलता है, इसे निश्चय ही विलक्षण सौंदर्य कहा जा सकता है इसी प्रकार की एक और कविता है 'वेव' जिसके अक्षर टेढ़े-मेढ़े रूप में लड़खड़ाते हुए नीचे पहुंचते-पहुंचते आपस में मिलकर अक्षरों का एक ढेर मात्र बनकर रह जाते हैं पर अंतिम पंक्ति में वही अक्षर फिर एकाएक 'रॉक' के रूप में दिखते हैं.

अभी तक हमें मूर्त काव्य के जो रूप देखने को मिले हैं, उनमें एक रूप वह भी है, जिसमें ताश के पत्तों के समान कार्डों पर अलग-अलग अक्षर लिखे हुए हैं. उन्हें ताश के समान फेंट कर तरह-तरह की कविताएं बनायी जाती हैं. यह केवल संयोग ही माना जाना चाहिए कि कोई कविता कैसे बनती है. एक अन्य रूप वर्ग पहेली के समान 'प्रस्तार' (परमूटेशन) है, जिसमें कुछ गिने-चुने शब्दों और अक्षरों का तरह-तरह से विनिमय एवं प्रस्तार कर कविता की पंक्तियां चुनी जाती हैं. एक ही रबर-स्टेम्प (मुहर) को अलग-अलग कोणों से लगा कर भी मूर्त काव्य के कुछ नये प्रयोग किये गये हैं. **होडार्ड** ने एक लिफाफे में रखे १२ कार्डों पर लिखी कविताओं को 'तांत्रिक कविताएं' कहा है. इसी प्रकार के और भी बहुत से रूपों का विवरण एवं परिचय अब तक प्रकाशित मूर्त काव्य संबंधी साहित्य से मिल सकता है.

स्काटलैंड के डनसिर गांव में रहने वाले मूत कवि **इआन हेमिल्टन फिनले** ने अपने फार्म हाउस के बाहर एक एक शब्दीय मूर्त कविता बना रखी है, जिसका नाम है 'बादल'. एक छोटे से वृत्ताकार सरोवर के एक ओर लकड़ी के एक तख्ते पर 'क्लाउड' शब्द लिखा हुआ है

और उसके ऊपर दो हाथों की रेखाकृतियां बनी हुई हैं. एक हाथ आकाश की ओर उठा हुआ है और दूसरा नीचे पानी की ओर गिरा हुआ.

यह एक मूर्त कविता है और केवल एक शब्द में ही वह सब कुछ कह देती है, जो अब तक तुकांत और अतुकांत कविताओं में समय-समय पर अलग-अलग वादों के रूप में कहा जाता रहा है. अपनी कविता का अर्थ स्पष्ट करते हुए फिनले कहते हैं :

> तालाब में लिली (फूल) लगायी गयी है, गर्मी के मौसम में उसमें पुष्प मंजरी के बादल से छा जायेंगे. इस प्रकार आकाश में स्वर्ण-श्वेत बादल और यहां लिली बादल के बीच एक रूपक बन गया है.

□ □

काव्य के क्षेत्र में मूर्त काव्य के रूप में किये गये इन क्रांतिकारी प्रयोगों का आरंभ ब्रिटेन में १९६२ में हुआ. उसके बाद से मुद्रकों, मूर्तिकारों, शिल्पकारों, ड्राफट्मैन, डिजाइन बनानेवालों आदि के लिए कविता एक खेल बन गयी. कविता को बंधी-बंधायी लीक से मुक्ति दिलाने का यह प्रयास कुछ उसी प्रकार का था, जो लगभग ५० वर्ष पूर्व अवां-गा कवियों ने परंपरागत कविता को बंधनमुक्त करने में किया था.

१९६९ में लंदन की एक्जिओम कला दीर्घा ने फिनले की कविताओं की एक प्रदर्शनी आयोजित की थी, जो लगभग एक माह तक रही. इस प्रदर्शनी में उनकी पत्थर, कांच एवं अन्य पदार्थों पर 'लिखी' हुई कविताएं रखी गयी थीं. प्रत्येक कविता का मूल्य १०० पौंड[1] था. उन कविताओं को देखकर लगा कि फिनले वाक्यों में से कोई शब्द-विशेष उसी प्रकार खींच लेते हैं, जिस प्रकार सामान्यतः माला में से कोई दाना निकाल लिया जाता है. फिर इन शब्दों को वे इतनी स्वतंत्रता दे देते हैं कि वे स्वयं ही बिना किसी आधार के अपने संबंध एवं भाव व्यक्त कर सकें. इन शब्दों को वे पोस्टर, लकड़ी, पत्थर, धातु, कांच पर लटकाये हुए या उठे हुए, रखे हुए या खड़े हुए, बालू में पड़े हुए या पानी पर तैरते हुए—कोई भी रूप इस प्रकार देते हैं कि कवि

१. लगभग १६००) रु०

के मन में जो भाव हैं और कवि ने वह एक शब्द विशेष क्यों चुना, यह स्पष्ट हो जाता है. नाव, इंद्रधनुष, पवनचक्की और तालाब—ये कुछ रूप हैं, जिनमें **फिनले** की कविना सामने आयी है. **फिनले** का कहना है कि कला वह सामंजस्य एवं व्यवस्था-क्रम स्थापित कर देती है, जो अधिकांश लोग सामान्यतः जीवन में प्राप्त नहीं कर पाते.

पहले **फिनले** को अपने नये प्रयोगों के कारण लोगों के विरोध का सामना करना पड़ा. स्काटलैंड में उन्हें अपनी परंपरागत संस्कृति का विरोधी एवं उसे नष्ट करने वाला माना गया, जिसके परिणाम स्वरूप उन्होंने १९६० में **वाइल्ड हाथोर्न** प्रेस की स्थापना की.

इस प्रेस से प्रकाशित होनेवाली दो पत्रिकाएं **पुअर ओल्ड, टायर्ड, हार्स** और **फिश शीट** अभी कुछ वर्षों तक ब्रिटेन की अकेली ऐसी पत्रिकाएं थीं जिनमें मूर्त काव्य का प्रकाशन होता था. पर अब अन्य कवियों ने भी या तो **फिनले** के समान अपने प्रेस खोल लिये हैं या अन्य प्रेसों का सहयोग प्राप्त कर लिया है.

इन प्रेसों से क्या प्रकाशित होता है ? यह जानकर कुछ क्षणों के लिए तो आप निश्चय ही विश्वास नहीं कर सकेंगे. पोस्टर कविताएं, कविताओं के बोर्ड, ताश के पत्तों के समान खेले जाने वाले कविताओं के शब्द-कार्ड, और इसी प्रकार की अन्य चीजें इन प्रेसों से निकलती हैं. इससे पता चलता है कि यह मूर्त आंदोलन कविता को अब तक के बंधनों से किस प्रकार मुक्त करना चाहता है.

स्थान और समय का अधिकाधिक उपयोग कर उनमें शब्दों को बिठाने के रूप में दृश्य कविता को ब्रिटिश मूर्त कवियों का योगदान बहुत ही महत्वपूर्ण है. यहां के प्रायः सभी मूर्त कवियों ने समय-समय पर किसी-न-किसी रूप में इस क्षेत्र में कुछ बहुत ही रोचक एवं आकर्षक प्रयोग किये हैं. उनके प्रयोगों से अंतर्राष्ट्रीय मूर्त काव्य आंदोलन को एक नयी दिशा मिली है. **केन नाक्स** और **लिलियन लिज्न** के प्रयोग इस दिशा में उल्लेखनीय हैं. **लिलियन** के कविता यंत्र, जिनसे वे अपनी कविताएं तैयार करती हैं, सर्व प्रथम १९६३ में तैयार किये गये थे. इन यंत्रों का आहार है शब्द और अक्षर तथा उनमें लगे हुए मोटर चालित सिलिंडर उन्हें उनकी कविताओं में उचित स्थान पर रखने का कार्य करते हैं. उनकी प्रायः सभी कविताओं की एक विशेषता उनका पूर्व नियोजित प्रयोग भी है. ये यंत्र प्रकाश के माध्यम से

तेज या धीमी गति से आवश्यकतानुसार शब्दों एवं अक्षरों को आगे-पीछे खींचते हैं. शाब्दिक अर्थ में इसे हम 'शब्दों का खेल' कह सकते हैं, पर **लिलियन** के ये प्रयोग खेल की सीमा से आगे तब बढ़ जाते हैं, जब यंत्र के सिलिंडर मोटर-चालित न होकर 'कवि-चालित' हो जाते हैं और वह हाथों से उन्हें चलाकर शब्दों एवं अक्षरों की विविध संभावनाओं को मूर्त रूप देता हैं.

□ □

ब्रिटेन में मूर्त काव्य आंदोलन का एक प्रभाव यह पड़ा है कि कविताए अब वहां दैनिक वातावरण का एक अंग बन गयी हैं. ड्राइंग रूम में तरह-तरह के सजावट के सामानों, रिकार्ड, वीडिओ, टेलीविजन और पुस्तकों, मूर्तियों तथा फूलों के समान अब कविताएं भी रखी जाने लगी हैं और उन्हें कमरों में प्रायः इस ढंग से सजाया या रखा जाता है कि प्रवश करने पर सबसे पहले दृष्टि उन्हीं पर पड़े. एक अन्य मूर्त कवि **जान शार्की** का कहना है कि मूर्त कविताएं सार्वजनिक स्थानों यथा पिकडिली सर्कस, ट्राफलगर स्क्वायर जैसे खुले स्थानों के साथ-ही-साथ सड़कों पर भी थोड़ी-थोड़ी दूर पर उसी प्रकार रखी जानी चाहिए जिस प्रकार वहां लैंप पोस्ट लगे रहते हैं.

शार्की ने जनसाधारण को मूर्त काव्य की ओर आकर्षित करने के उद्देश्य से एक शब्द-फिल्म भी बनायी है जो उनके कथनानुसार एक 'बहु-प्रस्तारक' कविता पर आधारित है. यह फिल्म दो प्रोजेक्टरों पर एक साथ चलती है. प्रत्येक प्रोजेक्टर में ८० पारदर्शियां रहती हैं तथा दोनो प्रोजेक्टर एक साथ अलग-अलग स्पीड पर चलते हैं. उनकी रोशनी ३० फीट ऊंचे दो विशाल पर्दों पर पड़ती है. **शार्की** का कहना हैं कि ज्यों ही लोग प्रदर्शनी में प्रवेश करते हैं, प्रोजेक्टर की रोशनी उन पर पड़ती है और उनकी छाया पर्दों पर पहले ही पड़ रही पार-दर्शियों की छवि पर. इन सबका सम्मिलित प्रभाव होता है मूर्त कविता. **शार्की** ने २० फीट लंबी एक भित्ति कविता भी लिखी है.

ब्रिटेन में मूर्त काव्य का प्रचार करने वालों में **होडार्ड** का नाम प्रमुख है. **होडार्ड** एक विद्वान पादरी हैं, जो प्रिकनाश गिरजाघर में रहते हैं. ब्राजील के मूर्त कवियों द्वारा प्रकाशित घोषणा पत्र उन्होंने १९६२ में ग्लासगो विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के प्रोफेसर **एडविन मार्गन** और **फिनले** के साथ ही पढ़ा था. तभी से वे मूर्त कविता के भक्त हो गये.

वैसे पहले भी वे 'अवां-गा' कविताएं लिखते थे. मूर्त काव्य की वकालत करते हुए उन्होंने लिखा है कि शब्द हीरे के समान सुन्दर और कड़े होते हैं. पर उनके सौंदर्य का पता तभी लग सकता है, जब कि उन्हें उचित परिप्रेक्ष्य में 'दिखाया' जाए. मूर्त कविता ही एकमात्र ऐसा माध्यम है, जिससे कवि और पाठक के बीच की दूरी कम होती है.

होडार्ड ने मूर्त काव्य अधिक नहीं लिखा है. उन्होंने टाइपराइटर के माध्यम से कुछ शब्दहीन कविताओं के चौथे आयाम की स्थापना की है. प्लास्टिक के टुकड़ों के बीच में अखबारों एवं पत्रिकाओं की कतरनें रख कर भी उन्होंने मूर्त कविता के क्षेत्र में कुछ नये प्रयोग किये हैं.

ग्लास्टरशायर प्रदेश में मूर्त कविता के प्रति लोगों को आकर्षित करने और उनकी अच्छी धारणा बनाने में **जान फर्नीवाल, केन नाक्स** और **चार्ल्स वेरी** के साथ ही **होडार्ड** का भी नाम लिया जाता है.

ब्रिटेन में मूर्त काव्य की पहली प्रदर्शनी १९६४ में कैम्ब्रिज में हुई थी, जिसमें कई देशों के मूर्त कवियों की चीजें थीं. अब तो वहां ऐसी प्रदर्शनियों की भरमार-सी हो गयी है और प्रायः प्रत्ये क दूसरे-तीसरे महीने कहीं-न-कहीं कोई-न-कोई प्रदर्शनी होती रहती है. इनमें मूर्त काव्य के नये-नये रूप देखने को मिलते हैं. पर इन प्रदर्शनियों का एक परिणाम यह भी हुआ है कि अधिकांश कवियों की कुछ प्रारंम्भिक कविताएं या तो 'टूट-फूट गयी' हैं या पूर्णतया नष्ट हो गयी हैं.

इस तरह आज का पाश्चात्य काव्य एक ऐसे बिंदु पर आ पहुंचा है जहां वह अपनी रचना के लिए केवल शब्दों और अक्षरों का आश्रित ही नहीं वरन् चित्र, छायांकन शिल्पकला और शब्द—सभी का मुखापेक्षी बन गया है और लगता है कि कविता भी वहां के सामान्य जीवन के समान भौतिक बन गयी है, शायद यह इसका अंतिम चरण है या आगे कुछ और भी ?

● ●

सबसे छोटी कविता

भारतीय ज्ञानपीठ के १९६८ के पुरस्कार समारोह में दो शब्दों की कविताओं का आदान-प्रदान हुआ था और १२ जनवरी १९६९ के **धर्मयुग** में प्रकाशित 'पुष्पधन्वा' के विवरण में **प्रभाकर माचवे** ने संसार की सबसे छोटी कविता —

'आई

व्हाई ?'

को माना था. इस संदर्भ में कुछ और बातें.

वार्षिक **गिनेस बुक ऑव रिकार्ड्स** के १९६८ के अंक में संसार की सबसे छोटी कविता **अरम सारोयान** द्वारा लिखित **ब्लाड** (BLOD) को बतलाया गया है.

प्रसिद्ध साहित्यिक साप्ताहिक **टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट** के एक स्तंभ लेखक ने जब इस बात का उल्लेख किया तो एक पाठक ने **गिनेस** बुक **ऑव रिकार्ड्स** में दिये गये उक्त 'तथ्य' को गलत बतलाते हुए कहा कि यदि अन्य प्रकार की कविताएं (अर्थात् ऐसी कविताएं जिनमें अक्षरों या शब्दों का प्रयोग न किया गया हो) छोड़ दी जाएं तो संसार की सबसे छोटी कविता होने का श्रेय इसी कवि की (अर्थात् **अरम सारोयान** की) बिना शीर्षक की कविता—

m (Double barreled m)

को दिया जाना चाहिए यह कविता गोलियर्ड प्रेस, लंदन से अनियमित रूप में प्रकाशित होनेवाली काव्य पत्रिका **बिफोर योर व्हेरी आइज** (Before your very eyes) के १९६७ के अंक में प्रकाशित हुई थी.

पर यह विवाद शायद यहीं समाप्त नहीं होना था. क्योंकि इसके बाद एक अन्य पाठक ने उक्त दावे का खंडन करते हुए बतलाया कि उससे भी छोटी दो और कविताएं पहले प्रकाशित हो चुकी हैं. इनमें से एक

तो है **एडविन मार्गन** की 'r' (अंग्रेजी वर्णमाला के R का lower case) जो यूजेन गोमरिंगर प्रेस द्वारा प्रकाशित उनके कविता-संग्रह **स्टेरी-बेल्ड्ट** में संग्रहीत की गयी है. दूसरी कविता **इआन हेमिल्टन** की 't' (अंग्रेजी वर्णमाला के T का lower case) है जो **लेंड्समेंस टी** शीर्षक से सलामंडर प्रेस द्वारा प्रकाशित उनके कविता-संग्रह **टी लोन्ज एंड फिशेज** में दी गयी है.

यहां यह भी बतला देना अप्रासंगिक न होगा कि इतनी ही छोटी २४ कविताएं और भी हैं जिनका संग्रह कर्सी, सफोक (इंग्लैंड) के **निकोलस जरब्रुग** ने किया है और इस संग्रह के प्रकाशन के लिए अब वे किसी प्रकाशक की तलाश में हैं.

पर क्या 'r' और 't' से भी छोटी कोई कविता हो सकती है? बेक्सहिल-आन-सी के **मार्टिन सेमूर-स्मिथ** को जब पता चला कि संसार की सबसे छोटी कविताएं लिखने का 'झूठा' श्रेय अन्य लोगों को दिया जा रहा है, तो उन्होंने घोषणा की कि इस विशिष्ट श्रेय के के उचित पात्र वे स्वयं हैं, क्योंकि उनकी **आइलेस डाट डांसिंग आन ए रिमूव्ड स्टेम** शीर्षक (·) कविता सर्वप्रथम **क्लेक्टन ट्रौमाटिक** नामक पत्रिका में १९४६ में प्रकाशित हुई थी. बाद में एक कला-पत्रिका **बी-ऑव** में भी उसे प्रकाशित किया गया था. पर कुछ समय बाद उसे और भी छोटा बना दिया गया. रूस में कांक्रीट (मूर्त) एवं अवां-गा कविताओं के लोकप्रिय न होने के बावजूद उनकी इस कविता को रूसी पाठकों से बहुत प्रशंसा मिली. पर उस पर 'सेंसर' लग जाने की आशंका से उसे 'माइक्रो-बिंदु' (micro-dot) का रूप दे दिया गया जिससे उसे रूसी पाठकों में एक दूसरे के बीच आसानी से पहुंचाया जा सके और अधिकारियों की कोप-दृष्टि भी उन पर न पड़ सके. इस प्रकार उसे अब 'अदृश्य कविता' कहा जा सकता है जो निश्चय ही 'r' और 't' जैसी तथाकथित छोटी कविताओं से बहुत छोटी है.

● ●

एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका या 'भानुमती का पिटारा'

विश्व के किसी भी देश के किसी भी शिक्षित व्यक्ति से, स्कूल-कालेज के किसी विद्यार्थी से, या सामान्य ज्ञान में रुचि रखने रखने वाले किसी भी व्यक्ति से यदि आप किसी विश्वकोश का नाम पूछें, तो उसे अन्य विश्वकोशों के नाम सम्भवतः मालूम न हों, पर इसकी शत-प्रतिशत सम्भावना है कि **एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका** के विषय में उसे अवश्य पता हो. भारत में भी हिन्दी भाषा-भाषी लोगों में से बहुतों को **हिन्दी विश्वकोश** के सम्बन्ध में भले ही पता न हो, पर वे **ब्रिटानिका** के नाम से अवश्य परिचित होंगे. इसी प्रकार किसी भी श्रेष्ठ पुस्तकालय में अन्य कोई विश्वकोश हो या न हो, **ब्रिटानिका** होने की सम्भावना अधिक है. विश्वकोशों में यह नाम अब इतना अधिक प्रसिद्ध हो चुका है कि केवल **ब्रिटानिका** मात्र कहने से ही लोग सही आशय समझ लेते हैं.

ब्रिटानिका का प्रकाशन पिछले २०० वर्षों के साहित्यिक इतिहास की एक महान घटना है. इसके क्रमिक विकास का अपना रोचक इतिहास भी है सर्वप्रथम १७७१ में ३ खंडों में पुस्तक साइज के लगभग ढाई हजार पृष्ठों में प्रकाशित यह विश्वकोश आज रायल साइज के ३० खंडों का रूप ले चुका है और इसके लगभग ३३ हज़ार पृष्ठों में मुद्रित लगभग साढ़े ४ करोड़ शब्दों को हम विविध विषयों की एक हजार से अधिक पुस्तकों का निचोड़ कह सकते हैं.

विश्व के महान संदर्भ ग्रंथों में ब्रिटानिका की गणना होती है और किसी भी विषय को जानकारी के लिए इसे आधिकारिक एवं विश्वस्त सूत्र माना जाता है. इसके ३० खण्डों में दिये गये लगभग २२,००० चित्र इसमें दिये गये हजारों विषयों को समझने में सहायक होते हैं. इसके लेखों को लिखने में ब्रिटानिका ने १३१ देशों के ४६३७ लेखकों,

सम्पादकों और विद्वानों की सहायता ली है. **ब्रिटानिका** इस बात का दावा नहीं करती कि उसमें दिये गये लेखों से पाठकों को किसी विषय-विशेष के सम्बन्ध में **पूरी** जानकारी हो जाएगी. पर उसका यह दावा अवश्य है कि उसमें दिये गये लेखों से पाठकों को किसी **भी** विषय के सम्बन्ध में **आवश्यक** जानकारी प्राप्त हो सकती है. उसके बाद कोई पाठक यदि उस विषय के सम्बन्ध में कुछ और जानना चाहे तो **ब्रिटानिका** में उसे उस विषय से सम्बन्धित श्रेष्ठ एवं मान्य ग्रंथों की सूचना भी मिल जाएगी.

१७७१ में ३ खण्डों का प्रथम संस्करण प्रकाशित होने के पूर्व १७६८ में **ब्रिटानिका** का धारावाहिक प्रकाशन साप्ताहिक किश्तों में १०० अंकों में हुआ था. इसको विषय-वस्तु अकारादि क्रम में रखन की योजना एक स्काटिश युवक **कालिन मेकफर्कुहार** ने और प्रकाशन योजना **एण्ड्रू बेल** ने बनाई थी. इन दोनों की सूझ-बूझ से **ब्रिटानिका** का योजना-नुसार प्रकाशन आरंभ हुआ और यह इतना सफल हुआ कि ५ वर्ष के अन्दर ही प्रथम संस्करण समाप्त हो जाने के कारण १७७६ में इसका दूसरा सस्करण प्रकाशित हुआ. यह १० खण्डों में था.

कुछ वर्ष बाद जब तीसरे संस्करण की तैयारी आरम्भ हुई तो उसे पहले ३०० साप्ताहिक अंकों में प्रकाशित किया गया. बाद में सभी अक एक साथ १७६७ में लगभग १५ हजार पृष्ठों में तीसरे संस्करण के रूप में प्रकाशित हुए. तीसरे संस्करण के प्रकाशन के बीच में हो **मैकफर्कुहार** की मृत्यु हा जाने के कारण **एण्ड्रू** बेल को बाकी खंडों को अकेले ही प्रकाशित करना पड़ा. तीसरे संस्करण की पहले केवल ५० ० प्रतियां प्रकाशित करने की योजना थी. पर इस समय तक **ब्रिटानिका** इतनी लोकप्रिय हो चुकी थी कि इतनी प्रतियों के आर्डर प्रकाशन आरम्भ होने के पूर्व ही मिल गये. अतः तीसरे संस्करण की दस हजार प्रतियां प्रकाशित करनी पड़ीं. पर ये भी शीघ्र ही बिक गई और कुछ ही समय बाद उसकी तीन हजार प्रतियां और छापनी पड़ीं.

१८१० में चौथा संस्करण २० खंडों में पूर्ण होने के पूर्व ही १८०६ में **एण्ड्रू बेल** की मृत्यु हो गई. उस समय तक पाँचवें संस्करण की तैयारी भी चौथे संस्करण के ही पुनर्मुद्रण के रूप में आरम्भ हो चुकी थी. पर **बेल** के उत्तराधिकारी अपने दायित्व का निर्वाह ठीक से नहीं कर पाये और पांचवें संस्करण के केवल ४-५ खड प्रकाशित करने के बाद ही

उन्होंने **ब्रिटानिका** का कापीराइट एक अन्य प्रकाशक **कान्सटेबिल** को बेच दिया जिसने १८१७ में पांचवां संस्करण २० खंडों में प्रकाशित किया.

कान्सटेबिल के हाथ में कापीराइट आने के बाद **ब्रिटानिका** के रूप-रंग और आकार-प्रकार में परिवर्तन तो हुआ ही, विषय-वस्तु में भी संशोधन किया गया. उसने पांचवें संस्करण के पूरक के रूप में ५००० पृष्ठों में ६ खण्ड और प्रकाशित किये जो बाद में छठे संस्करण में मूल **ब्रिटानिका** में मिला दिये गये.

अब तक **ब्रिटानिका** वृहदाकार हो चुकी थी. इतनी कि किसी भी सामान्य प्रकाशक के लिए उसका नया संस्करण प्रकाशित कर सकना सम्भव नहीं था. बिना संशोधन किये उसे ज्यों-का-त्यों प्रकाशित करना भी पाठकों एवं ग्राहकों के प्रति उचित नहीं था. अतः १८२० में एक प्रधान सम्पादक की नियुक्ति कर २५ खण्डों का एक नया संस्करण प्रकाशित करने की योजना बनायी गयी. पर इसी बीच **कान्सटेबिल** की आर्थिक स्थिति बिगड़ जाने के कारण **ब्रिटानिका** का कापीराइट एक दूसरे प्रकाशक **एडम एण्ड ब्लैक** ने खरीद लिया.

ब्लैक ने १८३० से १८४२ तक २१ खण्डों में जो सातवाँ संस्करण प्रकाशित किया, वह पिछले संस्करणों की अपेक्षा पूर्णतः संशोधित एवं परिवर्द्धित था. उसी का पुनर्मुद्रण बाद में आठवें संस्करण के रूप में हुआ.

ब्रिटानिका को जिस संस्करण ने एकाएक ख्याति दिलाई और जिसके कारण विद्वत्जगत में उसे एक अपरिहार्य श्रेष्ठ संदर्भ ग्रंथ माना जाने लगा, वह था नवां संस्करण जिसका प्रकाशन १८७५ में आरम्भ होकर १८८९ में समाप्त हुआ. पिछली परम्परा के विपरीत इस संस्करण में आमूल परिवर्तन एवं लेखों की सामग्री में संशोधन किये गये थे. इसे तैयार करने में अनेक देशों के प्रसिद्धतम एवं मान्य विद्वानों की सहायता ली गई थी जिसके कारण यह अपने ढंग का अकेला उच्च स्तर का ग्रंथ माना जाने लगा. और शायद इसी कारण केवल अमेरिका में ही इसकी ४५ हजार से अधिक प्रतियां बिको थीं.

उस समय तक कोई अन्तर्राष्ट्रीय कापीराइट कानून न होने के कारण कुछ अमेरिकी प्रकाशकों ने प्राइवेट एवं अनधिकृत रूप से **ब्रिटानिका**

के जाली संस्करण प्रकाशित कर हजारों प्रतियां बेच डालीं और देखते-ही-देखते काफी पैसा कमा लिया.

अद्यावधि **ब्रिटानिका** जिस रूप में उपलब्ध है और उसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति और व्यावसायिक दृष्टि से जो सफलता मिली है, उसका इतिहास केवल ७०-८० वर्ष पुराना ही है.

ब्रिटानिका की इस अप्रत्याशित सफलता एवं अमेरिका में उसके जाली संस्करणों की बिक्री के कारण १८९७ में चार अमेरिकियों ने विश्व के अन्य देशों में **ब्रिटानिका** की बिक्री बढ़ाने के उद्देश्य से एक कम्पनी बनाई. इस कम्पनी ने मूल ब्रिटिश प्रकाशक **ब्लैक** से अनुबंध कर अमेरिका में ब्रिटानिका का मुद्रण कराया और लंदन के प्रसिद्ध दैनिक **द टाइम्स** से सम्पर्क कर **द टाइम्स** के नाम से ही उसकी बिक्री शुरू की. वे अपने प्रयत्नों में आशा से अधिक सफल हुए और कुछ ही वर्षों में **ब्रिटानिका** को चार बार पुनर्मुद्रित करना पड़ा.

ब्रिटानिका के अब तक के इतिहास में यह पहला अवसर था जब उसकी प्रतियां ब्रिटेन और अमेरिका की सीमा पार कर अन्य देशों में पहुंची हों. अमेरिको कम्पनी ने अपने विज्ञापन के तरीकों एवं प्रकाशन व्यवस्था से अपनी स्थिति बाद में इतनी अच्छी कर ली कि १९०१ में उसने ब्रिटिश प्रकाशक **ब्लैक** से कापीराइट खरीद लिया और इसी समय से **ब्रिटानिका** सही माने में अमेरिकी संरक्षण में आ गई.

इस समय तक १०वें संस्करण की भूमिका तैयार हो चुकी थी और मूल २४ खंडों के पूरक के रूप में ११ और खंड अलग से प्रकाशित हो चुके थे. अत: अब तक चली आई प्रथा के अनुसार ९वें संस्करण के मूल २४ खण्ड और उसके पूरक ११ खण्डों को मिलाकर दसवां संस्करण प्रकाशित हुआ.

१९०३ में **ब्रिटानिका** के विश्व प्रसिद्ध ११वें संस्करण पर कार्यारम्भ हुआ और इसके लिए लंदन और अमेरिका में अलग-अलग सम्पादकों की नियुक्ति की गई. यह संस्करण १९१०-११ में २९ खण्डों में प्रकाशित हुआ. यह पहला संस्करण था जिसके सभी खण्ड एक साथ प्रकाशित हुए थे. इस संस्करण की बिक्री के लिए ब्रिटेन के **कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय** के नाम का उपयोग किया गया.

सामग्री की दृष्टि से भी यह संस्करण अब तक के सभी संस्करणों से श्रेष्ठ माना गया तथा इसके प्रकाशन के बाद **ब्रिटानिका** को उस

समय उपलब्ध प्रसिद्ध इतालवी और स्पेनी विश्वकोशों के समकक्ष रखा जाने लगा.

११वें संस्करण के प्रकाशन काल में ही अमेरिकी कम्पनी के एक हिस्सेदार तथा **ब्रिटानिका** के अमेरिकी सम्पादक हूपर **ब्रिटानिका** के सर्वाधिकार खरीदकर स्वयं उसके मालिक बन गये थे. वे अब **ब्रिटानिका** में कुछ आमूल परिवर्तन करना चाहते थे पर इसी बीच प्रथम महायुद्ध छिड़ जाने के कारण **ब्रिटानिका** में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं किया जा सका.

१९१० में जब ११वें संस्करण का अंतिम खण्ड प्रकाशित हुआ था तब तक बहुत से लेख ७ वर्ष पुराने हो चुके थे. १२वें तथा १३वें संस्करण में भी इनमें कोई परिवर्तन नहीं किया जा सका था. ऐसी स्थिति में एक नये एवं पूर्णतः संशोधित संस्करण की आवश्यकता महसूस की जा रही थी. इस आवश्यकता को प्रकाशकों ने भी समझा और जब १४वें संस्करण की तैयारी आरम्भ हुई तो **ब्रिटानिका** के अब तक के सस्करणों की कमियों को ध्यान में रखा गया. इस संस्करण के लिए २५ लाख डालर की पूंजी लगाई गई. इसे पूरा करने में ३ वर्ष लगे और प्रायः सभी देशों के लगभग ३५०० विद्वानों से इसके लिए लेख लिखवाये गये. रायल साइज के २४ खंडों में यह संस्करण पहली बार १९२९ में प्रकाशित हुआ.

इसी संस्करण से **ब्रिटानिका** की अबतक की नीति में धीरे-धीरे कुछ परिवर्तन आरम्भ हुआ. इससे पहले करीब १५० वर्ष तक **ब्रिटानिका** पर ब्रिटेन का अधिक प्रभाव था और उसकी सामग्री में भी ब्रिटेन सम्बन्धी लेखों की प्रमुखता थी, पर १४वें संस्करण से **ब्रिटानिका** का एक प्रकार से अमेरिकीकरण हो गया. इस संस्करण के लिए लेख इतनी अच्छी तरह एवं सावधानी-पूर्वक लिखवाये गये थे कि बाद में कई वर्ष तक यही संस्करण बिना किसी संशोधन के बार-बार छपता रहा.

पर विज्ञान की निरन्तर प्रगति एवं अन्य क्षेत्रों में भी नई-नई बातों की जानकारी होते रहने के कारण अधिक समय तक ऐसा करते रहना सम्भव नहीं था. साथ ही अधिक व्यय-साध्य होने के कारण यह भी सम्भव न था कि सभी लेखों को फिर से लिखवाया जाता या प्रत्येक २-३ वर्ष बाद उनमें संशोधन कराया जाता. प्रत्येक ४-५ वर्ष बाद नया संस्करण निकालना भी प्रकाशकों के लिए व्यय-साध्य होता.

सभी प्रश्नों पर विचार करने के बाद यह तय किया गया कि अब और कोई 'नया' संस्करण प्रकाशित न कर लेखों को निरन्तर संशोधित करते रहने की नीति अपनाई जाए. इस नीति के अनुसार प्रत्येक लेख एक निश्चित अवधि के अंदर अवश्य ही संशोधित किया जाता है. जिन विषयों में बराबर प्रगति होती रहती है या जिन विषयों के लेखों में शीघ्र ही परिवर्तन करना होता है, उन पर बराबर ध्यान रखा जाता है. इस प्रकार कोई भी लेख संशोधन से बचने नहीं पाता. पर संशोधन की यह नीति बहुत सफल नहीं हुई. क्योंकि यद्यपि पिछले करीब ४० वर्षों से **ब्रिटानिका** का संशोधन इसी नीति पर होता रहा है (तथा बाद में शायद **ब्रिटानिका** का अनुकरण कर अन्य विश्वकोशों में भी यही नीति अपनाई गई), व्यवहार में देखा यह गया है कि इस अरसे में **ब्रिटानिका** समय के साथ आगे नहीं बढ़ पायी है, उसमें अनेक लेख अभी भी असंशोधित रह गये हैं. उदाहरणत: १९६४ के संस्करण में यद्यपि केनेडी हत्याकांड की सूचना शामिल कर दी गई पर पूर्वी अफ्रीका के एक देश केनिया को ब्रिटिश संरक्षित प्रदेश बतलाया गया जब कि तीन वर्ष पूर्व १९६१ में ही वह स्वतंत्र हो चुका था. इसी कारण १९६५ तक **ब्रिटानिका** की केवल उतनी ही प्रतियां छापी जाती रहीं जितनी बिकने की सम्भावना आंकी गई. जिन लोगों के पास ब्रिटानिका का सेट पहले से है, उनकी सुविधा के लिए प्रतिवर्ष **बुक आव दी ईयर** (ब्रिटानिका वर्ष पुस्तक) का प्रकाशन आरम्भ किया गया. इसके प्रत्येक अंक में पिछले एक वर्ष की महत्वपूर्ण घटनाओं व विषय-विशेष में हुई प्रगति का लेखा-जोखा दिया जाता है.

यथा सम्भव सभी विषयों की नवीनतम प्रगति एवं सूचना से पाठकों को अवगत कराने के लिए १९३६ से एक दूसरी सेवा यह शुरू की गई कि पाठकों द्वारा भेजे गये पत्रों के उत्तर में नई सूचनाएं भेज दी जाती हैं. पर इस सेवा का लाभ मुख्यतः उन्हीं लोगों को होता है जिनके सेट या **बुक आव दी ईयर** में किसी विषय-विशेष सम्बन्धी नई सूचना न हो. पता चला है कि प्रति वर्ष लगभग ५० हजार से अधिक पत्रों के उत्तर इस प्रकार दिये जाते हैं.

ब्रिटानिका की सफलता से प्रभावित होकर १९३३-४३ के बीच **ब्रिटानिका जूनियर** नामक एक बाल-संस्करण भी प्रकाशित किया गया जिसका संशोधित संस्करण १९४७ में १५ खण्डों में प्रकाशित हुआ.

१६४१ में जब **शिकागो विश्वविद्यालय** को ब्रिटानिका के सर्वाधिकार दान में मिल गये तो कहना चाहिए कि इसी समय से ब्रिटानिका के बुरे दिन शुरू हुए. क्योंकि **शिकागो विश्वविद्यालय** के पास कापीराइट आते ही प्रकाशकों की रुचि पाठकों के हित व लेखों का उच्च स्तर बनाये रखने की ओर कम तथा अधिक-से-अधिक धन प्राप्त करने की ओर अधिक होती गई. इसी के परिणामस्वरूप ब्रिटानिका कम्पनी ने पिछले कुछ वर्षों में कुछ अन्य संदर्भ ग्रंथ भी प्रकाशित किये हैं जिनमें **ब्रिटानिका वर्ल्ड एटलस** तथा **ग्रेट बुक्स आव दी वर्ल्ड** (५४ खण्ड) प्रमुख हैं.

ब्रिटानिका की आर्थिक स्थिति का अनुमान केवल इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि १६५४ में ब्रिटानिका कम्पनी ने विश्वप्रसिद्ध एवं उच्च कोटि के मान्य अंग्रेजी शब्दकोश **वेब्सटर्स डिक्शनरी** प्रकाशित करने वाली कम्पनी **मरियम वेब्सटर्स** को एक करोड़ ४० लाख डालर में खरीद लिया.

ब्रिटानिका की निरन्तर बढ़ रही व्यावसायिक नीति के कारण पिछले ३० वर्षों में ब्रिटानिका की विषय वस्तु के स्तर में ह्रास होने के साथ-ही-साथ यह भी देखा गया है कि बिक्री बढ़ाने के लिए कम्पनी ने इस युग के नये-नये हथकंडे अपनाये, जिसके शिकार अनेक ग्राहक हुए. **ब्रिटानिकी** को इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति की ओर अभी कुछ समय पूर्व लंदन के दैनिक समाचार पत्र **डेली मेल** ने एक विशेष पूरक के रूप में लेखों को प्रकाशित कर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया था. शायद यही कारण है कि आजकल लंदन के समाचार पत्रों में अक्सर ऐसे विज्ञापन देखने को मिलते हैं जिनमें **ब्रिटानिका** का एक-दो वर्ष पुराना सेट आधे से भी कम मूल्य में मिलने की सूचना रहती है.

ब्रिटानिका की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि इसका नाम यद्यपि अभी भी **ब्रिटानिका** है, इसके कुल ६ लाख शेयरों में से केवल दो को छोड़कर बाकी सभी अमेरिकी कम्पनी के पास हैं. कम्पनी की लाभ-हानि का विवरण कभी प्रकाशित नहीं किया जाता.

प्रतिष्ठा की दृष्टि से प्रायः सभी देशों में **ब्रिटानिका** को एक निश्चित मान्यता मिली हुई है. **ब्रिटानिका** शब्द मात्र के सम्पर्क से ही लोग अपने आपको कितना गौरवान्वित समझते हैं, इसका अनुमान ईरान

के एक शाह से सम्बन्धित उस घटना से हो सकता है जो ब्रिटेन के तत्कालीन प्रधान मंत्री **हेरोल्ड विल्सन** ने १६६८ में **ब्रिटानिका** की २००वीं वर्षगांठ के उपलक्ष्य में आयोजित एक भोज में बतलाई थी.

कहा जाता है कि अठारहवीं सदी के प्रारम्भ में ईरान के तत्कालीन शाह **फतेह अली** को उनके किसी प्रशंसक ने **ब्रिटानिका** का एक सेट उपहार में दिया. इस भेंट से वे इतने प्रसन्न हुए कि उसी दिन उसे पढ़ने में लग गये और पूरे १८ खण्ड समाप्त कर ही चैन ली. यह काम समाप्त हो जाने पर उन्होंने अपनी अनेक पदवियों में एक और पदवी जोड़ ली और यह पदवी थी **मोस्ट फारमिडेबिल लार्ड एण्ड मास्टर आफ एन्साइक्लोपीडया ब्रिटानिका** (Most Formidable Lord and Master of Enyclopedia Britannica).

जापान में जब दो दशक पूर्व पहली बार **ब्रिटानिका** का विधिवत विज्ञापन शुरू हुआ तो हजारों लोगों ने, जिन्हें अंग्रजी का जरा भी ज्ञान नहीं था, केवल इसलिए **ब्रिटानिका** खरीदी कि इससे उनकी प्रतिष्ठा और ड्राइंग रूम की शोभा बढ़ेगी.

पर अब **ब्रिटानिका** की प्रामाणिकता पर एक प्रश्न चिन्ह लग गया है. और इसका कारण है **डा० ऐनबाइन्डर** की पुस्तक **मिथ आफ ब्रिटानिका.** इस पुस्तक ने वस्तुतः **ब्रिटानिका** का अस्तित्व ही संदेहास्पद बना दिया है.

डा० ऐनबाइण्डर की पुस्तक पढ़कर किसी भी अध्ययेता की यों धारणा हो सकती है कि किसी समय का एक अधिकारिक एवं उच्चकोटि का माना जाने वाला संदर्भ ग्रंथ आज उसके प्रकाशकों की नीति के कारण व्यावसायिक भावना में इतना अधिक लिप्त हो गया है कि वह अपने मूल उद्देश्य से हट गया है. वह भूल गया है कि पाठकों एवं ग्राहकों के प्रति उसकी एक जिम्मेदारी है. वह भूल गया है कि उसकी अपनी एक उत्कृष्ट परम्परा है जिस पर लोगों को विश्वास है. आज **ब्रिटानिका** के डायरेक्टरों ने पाठकों के इस विश्वास को चूर-चूर कर दिया है. **ब्रिटानिका** अब पाठकों को तथ्यों से अवगत कराने वाली नहीं वरन भुलाने में डालने वाली है, उन्हें पथ भ्रष्ट करने वाली है.

लेखक को **ब्रिटानिका** का 'पोस्टमार्टम' करने की प्रेरणा कैसे मिली ? इस सम्बन्ध में उसने अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि **गेलीलियो** के सम्बन्ध में **ब्रिटानिका** में जो लेख था उससे उसे पहली

बार पता चला कि पीसा के बुर्ज से कुछ वजनी वस्तुएं नीचे गिराकर उसने (गेलीलियो ने) अपने से पहले के दार्शनिकों के सिद्धान्तों को गलत माना था.

ब्रिटानिका में यह लेख पढ़ने के कुछ समय बाद **डा० ऐनबाइण्डर** ने कार्नेल यूनीवर्सिटी के प्रोफेसर **लेन कूपर** की एक पुस्तक में पढ़ा कि **गेलीलियो** के सम्बन्ध में प्रचलित उक्त घटना पूर्णतः गलत एवं कपोल-कल्पित है. वस्तुतः **गेलीलियो** की किसी भी पुस्तक में इस घटना का उल्लेख नहीं मिलता. जिस समय की यह घटना बतलाई जाती है, उसके करीब ६० वर्ष बाद पहली बार इसे प्रचारित किया गया, पर **ब्रिटानिका** ने अपने लेख में इसे प्रामाणिक एवं सत्य घटना बतलाया था. इतना ही नहीं, प्रोफेसर **कूपर** की पुस्तक १६३५ में प्रकाशित हुई थी, पर उसके २०-२५ साल बाद तक **ब्रिटानिका** के लेख में इसे सही घटना के रूप में प्रकाशित किया जाता रहा.

इसके बाद तो **डा० ऐनबाइण्डर** को एक धुन सी लग गई और उन्होंने एक के बाद एक अनेक लेखों में प्रकाशित तथ्यों को गलत पाया. तब उन्होंने निश्चय किया कि वे पूरी **ब्रिटानिका** का पोस्टमार्टम करके ही रहेंगे.

लगभग ५ वर्ष तक वे इस कार्य में लगे रहे. इस अवधि में उन्होंने **ब्रिटानिका** का पूरा इतिहास खोज डाला और उसमें प्रकाशित लेखों में तथ्यों की जो गलतियां पाईं उनकी केवल सूची ही नहीं बनाई, वरन वे गलतियाँ क्यों रहती आई हैं, इसके कारणों का भी पता लगाया.

सबसे पहले उन्होंने कुछ लेख लिखकर अमेरिकी पत्रिकाओं को भेजे. इन लेखों में **ब्रिटानिका** में प्रकाशित कुछ लेखकों की अनाधिकारिता एवं भ्रांतियों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया गया था. उनका विचार था कि **ब्रिटानिका** के सम्बन्ध में कोई पुस्तक लिखने की अपेक्षा धारावाहिक रूप में पत्रिकाओं के लिए कुछ लेख लिखना अधिक उपयुक्त होगा. पर कोई भी संपादक डा० **ऐनबाइण्डर** के लेख प्रकाशित करने के लिए तैयार नहीं हुआ. प्रायः सभी संपादकों ने किसी-न-किसी बहाने लेख अस्वीकृत कर दिये. एक संपादक ने इस शर्त पर लेख प्रकाशित करना स्वीकार किया कि पहले किसी योग्य एवं अनुभवी वकील को पांडुलिपि दिखलाकर उसकी राय ले ली जाए. एक

अन्य पत्रिका ने डा० ऐनबाइण्डरसे ब्रिटानिका में उल्लिखित अमेरिकी ऐतिहासिक दंतकथाएं विषय पर विशेष लेख लिखवाया पर वह कभी प्रकाशित नहीं हुआ.

जब वे हर तरफ से निराश हो गये तो उन्होंने स्वतंत्र रूप से एक पूरी पुस्तक ही तैयार करने का निर्णय किया. सबसे पहले उन्होंने पुस्तक की रूपरेखा, परिच्छेदों के शीर्षक तथा एक परिच्छेद का संक्षिप्त प्रारूप तैयार कर उसकी प्रतियां २३ प्रसिद्ध प्रकाशकों के पास उनकी प्रतिक्रिया जानने के लिए भेजीं. इन २३ प्रकाशकों में से केवल एक ही ने पूरी पांडुलिपि देखने की इच्छा प्रकट की पर पांडुलिपि देखने के बाद उसने उसे प्रकाशित करने में असमर्थता प्रकट की. एक प्रकाशक ने निम्न आशय का पत्र भेजा:

> **जो लोग ब्रिटानिका खरीद चुके हैं, वे अब अपना व्यामोह दूर करना पसन्द नहीं करेंगे और जिनके पास ब्रिटानिका है ही नहीं, उनकी तो इस पुस्तक में कोई रुचि ही नहीं होगी.**

पर डा० ऐनबाइण्डर इससे हताश होने वाले नहीं थे. उन्होंने फिर कुछ पत्रिकाओं को लेख भेजे. १९६० में जब पहली बार कोलम्बिया फोरम नामक पत्रिका में उनका एक लेख प्रकाशित हुआ तो उसकी विद्वत्जगत में पर्याप्त चर्चा हुई. प्रसिद्ध साप्ताहिक न्यूजवीक ने उस लेख के आधार पर एक लम्बा समाचार प्रकाशित किया तो न्यूयार्क टाइम्स तथा अन्य पत्रों ने भी इस सम्बन्ध में विशेष समाचार स्तम्भ प्रकाशित किये. प्रसिद्ध ब्रिटिश मासिक पत्रिका एनकाउण्टर ने लेखक से एक ऐसे लेख की मांग की जिसमें ब्रिटानिका में प्रकाशित ऐसी सामग्री का विवरण हो जो विशेष रूप से ब्रिटेन एवं ब्रिटिश जनजीवन से सम्बन्धित हो. एक अन्य पत्र प्रोग्रेसिव ने एक विशेष लेख लिखवाया जिसमें बहुत ही गंभीर संपादकीय भूलों तथा ब्रिटानिका की बिक्री बढ़ाने एव संभावित ग्राहकों को फुसलाने के हथकंडों का भंडाफोड़ किया गया था.

इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि ब्रिटानिका की आलोचना से भय खाने वाले प्रकाशकों की भ्रांति दूर हो गई और अब उन्होंने स्वयं ही पुस्तक के सम्बन्ध में और जानकारी प्राप्त करने के लिए पत्र लिखे.

पर इन प्रकाशकों की यह जिज्ञासा नक्कारखाने में तूती की आवाज ही थी. क्योंकि **एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका** स्वयं अपने आप में एक विशाल संस्था है. अनुमान किया गया है कि विश्व भर में प्रति वर्ष इसके एक लाख ६० हजार से अधिक सेट प्रति सेट लगभग ६०००रु० के हिसाब से बिकते हैं. कम्पनी की कुल वार्षिक आय ११ करोड़ रु० से अधिक आंकी गई है. इतना ही नहीं, **एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका** कम्पनी **ब्रिटानिका विश्वकोश** के अतिरिक्त अन्य संदर्भ ग्रंथ (यथा **कांपटन्स इलस्ट्रेटेड एन्साइक्लोपीडिया, ब्रिटानिका जूनियर, ग्रेट बुक्स आफ दी वर्ल्ड**, आदि) भी प्रकाशित करती है. **ब्रिटानिका** कम्पनी की इतनी सुदृढ़ आर्थिक स्थिति के कारण अभी तक किसी निष्पक्ष समीक्षक के लिए यह सम्भव नही था कि वह **ब्रिटानिका** की नीति का सूक्ष्म पर्यालोचन कर सके. एक अन्य बात यह भी है कि कुछ प्रमुख एवं विश्वप्रसिद्ध अमेरिकियों ने शुरू से ही **ब्रिटानिका** का संरक्षण देकर उसे फलने-फूलने में सहायता दी है. ऐसे लोगों में **अडालाई स्टीवेन्सन** का नाम प्रमुख है.

विद्वानों के लिए ज्ञान-प्राप्ति एक साध्य है तथा शैक्षणिक जगत में ज्ञान-प्राप्ति का मूल्य धन से नहीं आंका जाता और न ही अनुसंधान का महत्व आर्थिक लाभ से. लेकिन जहां तक प्रकाशकों का प्रश्न है, वे किसी भी पांडुलिपि को सोने की मुर्गी के रूप में देखते हैं. उनका मुख्य स्वार्थ पांडुलिपि की विषय-वस्तु से नहीं, वरन भविष्य में उससे होने वाले आर्थिक लाभ से होता है. किसी भी पुस्तक की पांडुलिपि प्राप्त होने पर वे सबसे पहले अपने आप से पूछते हैं **क्या यह पुस्तक बिक सकेगी**? यही एक कारण था कि डा० **ऐनबाइण्डर** की पुस्तक प्रकाशित करने के लिए पहले कोई भी प्रकाशक तैयार नहीं हुआ. प्रकाशकों की धारणा थी कि **ब्रिटानिका के पाठकों या खरीददारों को किस प्रकार धोखा दिया गया है**, यह जानने के लिए ब्रिटानिका के सेटों के मालिक और अधिक पैसे खर्च करना पसंद नहीं करेंगे.

कोई पुस्तक प्रकशित होने पर बिकेगी या नहीं, यह कहना भी आसान नहीं है. प्रति वर्ष लाखों पुस्तकें प्रकाशित होती हैं और उनमें से केवल २०-२५ पुस्तकें ही 'बेस्टसेलर' सूची में आ पाती हैं. भारत में तो किसी भी पुस्तक की केवल एक हजार प्रतियां भी बिक जाएं तो लेखक एवं प्रकाशक दोनों को संतोष हो जाता है. पर विदेशों में विशेषकर

पाश्चात्य जगत में, दस हजार प्रतियां बिकने पर भी प्रकाशक कभी-कभी अपनी लागत भी नहीं निकाल सकता और न लेखक ही उतनी प्रतियों की रायल्टी से अपना परिश्रम सफल समझता है. ऐसी स्थिति में डा० **ऐनबाइण्डर** की पुस्तक प्रकाशित करने में अमेरिकी प्रकाशक हिचकिचाये हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं.

अंततः एक प्रकाशक **ग्रोव प्रेस** ने पांडुलिपि स्वीकार कर ली. पर जब मैटर कम्पोज होकर प्रेस में जाने वाला ही था कि प्रकाशक ने पांडुलिपि में कुछ परिवर्तन करना चाहा. **ट्रापिक आफ केन्सर** और **नेकेड लंच** जैसी विवादग्रस्त पुस्तकों के प्रकाशक से डा० **ऐनबाइण्डर** को ऐसी आशा नहीं थी. फिर भी उन्होंने बाध्य होकर पुस्तक में कुछ परिवर्तन करना स्वीकार कर लिया और जो बातें प्रकाशक को आपत्तिजनक जान पड़ीं, उन्हें फुट नोट के रूप में देने के लिए वे तैयार हो गए.

पुस्तक प्रकाशित होने के कुछ सप्ताह पूर्व जब **न्यूयार्क टाइम्स बुक रिव्यू** के सम्पादक के पास गेली प्रूफ समालोचना के लिए आये तो सम्पादक किसी ऐसे अधिकारी व्यक्ति का नाम नहीं सोच सका जो उसकी समालोचना लिखने के योग्य हो. हताश होकर उसने लेखक से निवेदन किया कि वह स्वयं करीब साढ़े सात सौ या आठ सौ शब्दों का एक ऐसा लेख अपनी पुस्तक के सम्बन्ध में लिखे जिसे पुस्तक की समालोचना के रूप में प्रकाशित किया जा सके. सम्पादक के ही शब्दों में डा० **ऐनबाइण्डर के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति अधिकारपूर्वक उसकी समालोचना नहीं लिख सकता था.**

सम्पादक ने डा० **ऐनबाइण्डर** को यह भी सूचना दी थी कि वे **ब्रिटानिका** के स्टाफ के किसी व्यक्ति से भी उनकी पुस्तक के सम्बन्ध में कोई लेख लिखने के लिए अनुरोध करेंगे और दोनों लेख एक साथ सम्पादकीय वक्तव्य के साथ प्रकाशित किये जाएंगे जिससे पाठकों को पता चले कि ऐसा करने का उनका उद्देश्य क्या था. **न्यूयार्क टाइम्स** ने इसके पहले कभी इस प्रकार किसी पुस्तक की समालोचना नहीं लिखवाई थी.

समालोचना प्रकाशित होने के कुछ दिन पूर्व **न्यूयार्क टाइम्स** ने इस पुस्तक के सम्बन्ध में प्रकाशित एक समाचार के रूप में सूचना दी थी कि एक नयी पुस्तक के लेखक को दृष्टि में **ब्रिटानिका** भानुमती का

पिटारा है. समाचार में पुस्तक से कुछ उदाहरण देते हुए यह भी स्पष्ट किया गया था कि **ब्रिटानिका** में अनेक तथ्यों को तोड़ा-मरोड़ा गया है तथा अन्त में यह भी कहा गया था कि इस पुस्तक के सम्बन्ध में **ब्रिटानिका** ने अपनी प्रतिक्रिया केवल मौन रहकर व्यक्त की है.

ब्रिटानिका का इस समय मौन रह जाना उसकी अबतक की नीति के विपरीत था. क्योंकि डा० **ऐनबाइण्डर** का सर्वप्रथम लेख प्रकाशित होने पर **ब्रिटानिका** के सम्पादक मंडल के चेयरमेन ने एक वक्तव्य देकर घोषित किया था कि **ब्रिटानिका** की विषय-वस्तु की आलोचना करने वाला व्यक्ति केवल अपनी अज्ञानता का ही परिचय देगा. अपने पाठकों को उन्होंने यह भी आश्वासन दिया था कि **ब्रिटानिका** आधुनिक पाण्डित्य की प्रतिनिधि है तथा उसका स्तर ऊंचा उठाये रखने के लिए बराबर ध्यान रखा जाता है.

इसके उत्तर में डा० **ऐनबाइण्डर** ने दावा किया कि **ब्रिटानिका** के १९६४ के संस्करण में प्रकाशित ५०० से अधिक लेखों को (जो सभी आधे पृष्ठ से ज्यादा के हैं) १८७५ से लेकर १९११ तक प्रकाशित संस्करणों में से लेकर ज्यों-का-त्यों प्रकाशित कर दिया गया है. इसके पूर्व २५ फरवरी १९६३ के **न्यूयार्क टाइम्स** में ब्रिटानिका के १९६३ के संस्करण के सम्बन्ध में जब श्री ऐनबाइण्डर का लेख प्रकाशित हुआ था तो **ब्रिटानिका** के सम्पादक मंडल ने १९६४ एवं १९६५ के संस्करणों की रूपरेखा बतलाकर **एनबाइण्डर** के मत का खंडन करना चाहा. लेकिन इसके एक वर्ष बाद याने **मिथ आफ ब्रिटानिका** के प्रकाशनोपरान्त तो उन्होंने पूर्णतः चुप्पी ही साध ली और कुछ इस प्रकार की प्रेस सूचना निकालकर अपने आपको संतुष्ट करने की चेष्टा की कि **ब्रिटानिका** के नवीनतम संस्करण में लाखों शब्दों का संशोधन किया गया है.

लाखों शब्दों के संशोधन के दावे का भंडाफोड़ डा० **ऐनबाइण्डर** ने यह कहकर किया कि ब्रिटानिका जब किसी लेख को सशोधित कर नये संस्करण में प्रकाशित करती है, भले ही वह संशोधन नाम मात्र का ही क्यों न हो, तो उस लेख के ऐसे सभी शब्दों की भी 'संशोधन' में गिनती होती है जिन्हें या तो एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर रख दिया गया है या जिनके स्थान पर किसी दूसरे पर्यायवाची शब्द का प्रयोग किया गया है. इससे सम्पादकों को यह दावा करने का

मौका सहज ही मिल जाता है कि ब्रिटानिका में प्रति वर्ष लाखों शब्दों का संशोधन किया जाता है, भले ही उसमें प्रकाशित सैकड़ों लेख पिछले कई दशकों से केवल पुनर्मुद्रित ही क्यों न किये जाते रहे हों. जब वाशिंगटन स्टार के सम्पादक ने इस आरोप के सम्बन्ध में ब्रिटानिका का स्पष्टीकरण मांगा तो ब्रिटानिका ने कुछ भी कहने से इन्कार कर दिया.

डॉ०ऐनबाइण्डर की पुस्तक प्रकाशित होने पर पत्र-पत्रिकाओं में उसकी काफी चर्चा हुई. प्रकाशक के शब्दों में, इस पुस्तक की आलोचना में विविध पत्र-पत्रिकाओं ने जितने पृष्ठ रंगे, उतने उसके द्वारा अब तक प्रकाशित किसी अन्य पुस्तक के लिए नहीं रंगे गये.

यद्यपि पुस्तक के सम्बन्ध में ब्रिटानिका की ओर से कोई प्रतिक्रिया प्रकट नहीं की गयी, पर ब्रिटानिका जगत में कुछ परिवर्तन तुरन्त ही कर दिये गये. १९२९ से ही ब्रिटानिका अपने लेखकों को प्रति शब्द दो सेन्ट की दर से पारिश्रमिक देती आ रही थी, अब यह दर बढ़ा दी गयी. पहले विविध पत्र-पत्रिकाओं में (लाइफ और टाइम्स में भी) ब्रिटानिका के प्रचार के लिए पूरे-पूरे पृष्ठ के आकर्षक विज्ञापन निकलते थे. उनका प्रकाशन बन्द कर दिया गया. पहले विज्ञापनों में तथा अन्य जगह अडालाई स्टीवेन्सन जैसे प्रसिद्ध व्यक्तियों की सम्मति भी छपती थी. अब वह भी छपना बन्द हो गई. इसी प्रकार और भी कुछ परि-वर्तन किये गये.

पत्रों में प्रकाशित समालोचना से ब्रिटानिका की प्रतिष्ठा तो गिरी ही, अन्य विश्वकोशों के सम्पादक भी चिन्तित हो उठे. उन्होंने भी अपने प्रकाशनों में आवश्यक परिवर्तन करने में देर नहीं की. एन्साइक्लो-पीडिया अमेरिकाना ने एक नये सम्पादक की नियुक्ति की तथा सम्पा-दकीय विभाग में पहले के कुछ सम्पादकों को हटाकर नये एवं योग्य सम्पादक रखे गये. ब्रिटानिका की ओर से घोषणा की गयी कि ब्रिटा-निका के पूर्णतः नये संस्करण की तैयारी आरम्भ हो चुकी है और यह नया संस्करण शीघ्र ही प्रकाशित होगा. इस नये संस्करण में प्रत्येक लेख एवं टिप्पणी को पढ़कर उसमें संशोधन ही नहीं किया जाएगा वरन कोई भी लेख या टिप्पणी उसी पृष्ठ पर नहीं मिलेगी जहां वह वर्तमान संस्करण में है.

ब्रिटानिका के नये रूप-रंग के साथ ही बिलकुल नये ढंग से लिखे गये लेखों को लेकर नये संस्करण के प्रकाशित होने का विज्ञापन यूरोपीय

समाचार पत्रों एवं साहित्यिक पत्रिकाओं में लगभग पांच वर्ष तक लगातार छपता रहा. इसके परिणाम स्वरूप लोगों में नये संस्करण के प्रति उत्सुकता होना स्वाभाविक थी. पर उन्हें इसके लिए कुछ वर्ष और प्रतीक्षा करनी पड़ी.

अंततः १९७४ में ३० खण्डों में नया संस्करण प्रकाशित हुआ जो अब तक के सभी संस्करणों से भिन्न और निश्चित रूप से सही अर्थों में पूर्णतः संशोधित नया संस्करण था. इस नये संस्करण के ३० खण्डों को तीन विभागों में विभाजित किया गया है. पहले विभाग में एक, दूसरे में १० और तीसरे में १९ खण्ड हैं. सभी विभागों के खण्डों की पृष्ठ संख्या तो अलग-अलग है ही, उनके खण्ड भी अलग-अलग हैं. याने दूसरे विभाग के खण्ड १ से १० तक हैं और तीसरे विभाग के खण्ड १ से १९ तक.

पहले विभाग में, जिसका केवल एक खण्ड है, सभी प्रमुख विषयों के सम्बन्ध में मोटे तौर पर एवं संक्षेप में परिचय दिया गया है. इसे ज्ञान की भूमिका या **ब्रिटानिका** की 'गाइड' कहा जा सकता है. उसे देखने के बाद ऐच्छिक विषय एवं उसके भागों-उपविभागों से सम्बन्धित टिप्पणियां दूसरे विभाग के १० खण्डों में मिलेंगी. यदि उससे भी संतोष न हो तो और अधिक जानकारी के लिए तीसरे विभाग के १९ खण्डों में उस विषय से सम्बन्धित विस्तृत लेख देखना चाहिए. दूसरे और तीसरे विभाग के खण्डों में सभी प्रविष्टियां अलग-अलग अक्षरादि क्रम से हैं.

इस प्रकार अन्य विश्वकोशों के समान सभी प्रविष्टियां एक ही अक्षरादि क्रम में न होकर **ब्रिटानिका** के नये सस्करण में उन्हें दो अलग-अलग क्रमों में कर दिया गया है. विद्वत्क्षेत्र में इसकी मिश्रित प्रतिक्रिया हुई है. बौद्धिक वर्ग में लेखों को इस प्रकार नये रूप में रखे जाने का स्वागत किया गया है तो समालोचकों ने इससे सामान्य पाठक का इसका उपयोग करने में होने वाली विविध कठिनाइयों की ओर इशारा कर कहा है कि पहले भले ही लोग वास्तव में इसे ज्ञानवर्धन के लिए खरीदते रहे हों, पर अब इसे अधिकांश लोग केवल ड्राइंग रूम की शोभा बढ़ाने की वस्तु के रूप में ही खरीदेंगे. १९७४ में प्रकाशित इस संस्करण के बाद कोई और संस्करण अभी तक नहीं निकला है. जिन लोगों के पास ३० खण्डों वाला यह संस्करण है, उन्हें विविध विषयों की अधुनातन जानकारी देने के लिए **ब्रिटानिका** प्रति वर्ष 'वार्षिकी' प्रकाशित करती है. ● ●

ब्रिटेन की साहित्यिक पत्रिकाएं

हिन्दी में कुछ गिनी-चुनी पत्रिकाएं ही ऐसी हैं जिन्हें विशुद्ध साहित्यिक कहा जा सकता है. अन्यथा, देखा यही गया है कि जो पत्रिकाएं प्रारम्भ में साहित्यिक पत्रिका के रूप में जन्म लेती हैं, उनमें से अधिकांश का प्रकाशन या तो असमय में ही बन्द हो जाता है या जो बची रहती हैं वे देर-सबेर विविध विषय विभूषित पत्रिका-मात्र बन कर रह जाती हैं. साहित्यिक पत्रिकाओं के न बिकने की शिकायत सभी को होती है. पिछले २०-२५ वर्षों पर दृष्टि डालें तो ऐसी कितनी ही पत्रिकाओं के नाम आसाना से गिनाये जा सकते हैं.

पर यह स्थिति केवल हिन्दी पत्रिकाओं की ही नहीं, बल्कि अन्य भाषाओं में प्रकाशित पत्रिकाओं की भी है. उदाहरणतः हम ब्रिटेन की बहुपठित और बहुचर्चित पत्रिकाओं को ही देखें. ब्रिटेन में इस समय ५० से अधिक ऐसी पत्रिकाओं का प्रकाशन होता है, जिन्हें विशुद्ध साहित्यिक कहा जा सकता है. इनमें से कुछ पत्रिकाएं तो कई वर्षों से निकल रही हैं और अब तक साहित्य-जगत में स्थापित हो चुकी हैं. कुछ पत्रिकाओं का प्रकाशन पिछले कुछ वर्षों के भीतर हुआ है और वे किसी-न-किसी प्रकार अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं.

प्रथम वर्ग की प्रायः सभी पत्रिकाएं, जिन्हें अब साहित्य में स्थायी स्थान मिल चुका है अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि की पत्रिकाएं हैं और किसी भी देश में अंग्रेजी साहित्य का शायद ही कोई ऐसा विद्यार्थी या विद्वान् होगा, जिसने इनका नाम न सुना हो. ऐसी पत्रिकाओं में लन्दन से प्रकाशित होने वाले साप्ताहिक पत्र **टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेण्ट** (जिसका नाम अब **टी एल एस** हो गया है) का नाम सर्वप्रथम लिया जा सकता है. समीक्षा-क्षेत्र में यह श्रेष्ठतम ब्रिटिश पत्र है. किसी देश में अंग्रेजी भाषा मे जितनी भी महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित होती हैं, प्रायः उन सभी की समालोचना इस पत्र में देखने को मिल सकती है. और तो

और, कभी-कभी यह भी देखा गया है कि कई अमेरिकी एवं अन्य देशों के प्रकाशनों की समीक्षा उन देशों के किसी पत्र में प्रकाशित होने के पहले ही इस पत्र में प्रकाशित हो जाती है. इसके प्रत्येक अंक में ५०-६० पुस्तकों की विस्तृत समीक्षा पूरे लेख के रूप में तथा लगभग १००-१५० पुस्तकों की सामान्य समीक्षा प्रकाशित होती है. अंग्रेजी साहित्य की नवीनतम गतिविधि से परिचित होने के लिए इस पत्र से अच्छा और कोई पत्र नहीं है. इसकी सभी समीक्षाएं समान रूप से उच्च साहित्यिक स्तर की एवं आधिकारिक विद्वानों द्वारा लिखी जाती हैं. इसका **पाठकों के पत्र** शीर्षक स्तम्भ भी विचार-विमर्श एवं समीक्षा-सम्बन्धी नयी जानकारी के लिए पढ़ना आवश्यक माना जाता है.

पहले इस पत्र की एक मुख्य विशेषता यह थी कि किसी भी समीक्षा के साथ लेखक का नाम प्रकाशित नहीं किया जाता था यद्यपि व्यवहार में देखा यही गया कि अधिकांश समीक्षक गोपनीय नहीं रह पाते थे. कारण, समीक्षात्मक लेखों की भाषा-शैली से ही पाठक इनके लेखक का पता लगा लेते थे. पर अब पिछले कुछ वर्षों से समीक्षाओं के साथ लेखकों का नाम भी दिया जाने लगा है. विश्व के सभी गणमान्य समीक्षकों एवं लेखकों का सहयोग इस पत्र को प्राप्त है तथा साहित्य की प्रत्येक विधा पर इस पत्र ने समय-समय पर अग्रलेख लिख कर साहित्य-प्रेमियों को विचार-सामग्री प्रदान की है. इस पत्र की एक अन्य विशेषता यह भी है कि प्रायः प्रत्येक दूसरे-तीसरे महीने साहित्य की किसी विधा के सम्बन्ध में इसका विशेषांक निकलता है, जिसमें प्रकाशित लेख कुछ ही समय बाद पुस्तकाकार भी प्रकाशित किये जाते हैं.

मासिक पत्रिकाओं में **एनकाउण्टर** को शीर्ष स्थान पर रखा जा सकता है. दिसम्बर १९६१ में इसका १००वां अंक निकला था. उसके बाद भी अब तक इस पत्रिका का प्रकाशन नियमित रूप से होता आ रहा है. साहित्यिक पत्रिकाओं के जीवनकाल पर दृष्टि डालने पर **एनकाउण्टर** की यह दीर्घायु अपने-आप में महत्त्वपूर्ण है. पर इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है इसका प्रसार. १९५३ में इसका सर्कुलेशन १०,००० था, जो १९६१ में बढ़ कर ३०,००० हो गया. आजकल इसकी लगभग ५० हजार प्रतियां छपती हैं. इसके १००वें अंक की ३५००० प्रतियां मुद्रित की गयी थीं. उस समय स्वयं **एनकाउण्टर** के स्टाफ को सन्देह था कि

शायद ही कभी इस प्रकार की किसी अन्य पत्रिका का सर्कुलेशन इतना बढ़ा हो. इसके पहले **स्क्रूटिनी** और **होराइजन** पत्रिकाएं निकल कर बन्द हो चुकी थीं. **एनकाउण्टर** विशुद्ध साहित्यिक पत्रिका नहीं है, यद्यपि उसके प्रत्येक अंक में साहित्य को भी पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिलता है तथा उसमें प्रकाशित कुछ साहित्यिक लेख अत्यन्त ही उच्च कोटि के होते हैं, जो साधारणतः अन्य पत्रिकाओं में देखने को नहीं मिलते. इसके **सम्पादक के नाम पत्र** अपने-आप में पूरे लेख ही होते हैं. इसमें प्रकाशित राजनीति, समाजशास्त्र आदि विषयक लेख भी अतुलनीय हैं तथा इसकी सम्पादकीय टिप्पणियों का भी अपना अलग स्थान होता है.

१००वें अंक में तत्कालीन सम्पादक **स्टीफेन स्पेण्डर** ने (जो स्वयं एक कवि हैं) **एनकाउण्टर** की नीति का विश्लेषण करते हुए लिखा था :

> लेखों के चुनाव में हम बहुत ही दूर-दृष्टिकोण रखते हैं. हम हमेशा ऐसी रचनाओं का स्वागत करते हैं, जिनमें उन स्थितियों एवं समस्याओं की चर्चा रहती है, जो अधुनातन संस्कृति पर सीधा प्रभाव डालती हैं. हमारा दूर-दृष्टिकोण वस्तुतः उन परिस्थितियों को अपनाने की कोशिश करता है जो आधुनिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों को बदल रही हैं. ऐसा जान पड़ता है कि साहित्यिक परम्परा के पुनर्मूल्यांकन के काल के बाद अब जो नयी पीढ़ी आयी है, जो समीक्षा और समाजशास्त्र दोनों से सम्बद्ध है, वह उस परम्परा की जड़ तक पहुंचना चाहती है. वह केवल इतने से ही सन्तुष्ट नहीं है कि उसे पिछले दो-तीन दशकों के श्रेष्ठ ग्रन्थ याने समीक्षकों की कसौटी पर खरे उतरे ग्रन्थ दे दिये जाएं. वह तो पिछले दो-तीन दशकों के समाज में अधिक रुचि ले रही है. इस नयी पीढ़ी से हमें जो उपलब्धियां मिली हैं, उससे मेरी यह धारणा पुष्ट होती है कि हम आज ऐसे युग में रह रहे हैं, जब लोग विश्व को प्रभावित करने वाली शक्तियों का एक नक्शा सामने रखना चाहते हैं. इस नक्शे में केवल साहित्य ही नहीं, वरन इतिहास, समाजशास्त्र आदि सभी बातें शामिल हैं.

एनकाउण्टर को अपने समय के सभी श्रेष्ठ लेखकों का सहयोग मिला है. समय-समय पर ऐसे लेख प्रकाशित करने का श्रेय भी **एनकाउण्टर** को मिला है, जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व मिला है और सभी देशों के बुद्धिजीवियों में उनकी चर्चा हुई है.

प्रश्न हो सकता है और वस्तुतः पिछले वर्षों में ऐसी आलोचना हुई भी है कि उक्त नीति के पालन में कला को उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता होगा. पर व्यवहार में देखा यह गया है और पिछले कुछ अंकों को देखने पर पता चलता है कि एक ओर तो समकालीन प्रश्नों और कला दोनों के प्रति **एनकाउण्टर** सामंजस्य रखता रहा है तथा दूसरी ओर साथ-ही-साथ साहित्यिक पक्ष को भी उसने किसी प्रकार उपेक्षित नहीं रखा है.

एनकाउण्टर सही अर्थों में एक अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिका है. विदेशों में इसकी अच्छी प्रतिष्ठा है. एशिया में, विशेषकर भारत में जितनी अधिक प्रतिष्ठा इसे प्राप्त है उतनी सम्भवतः किसी अन्य ब्रिटिश पत्रिका को नहीं. **एनकाउण्टर** की ग्राहक-सूची (जो पूरे सर्कुलेशन की ४० प्रतिशत है) पिछले १० वर्षों में ५ गुनी बढ़ गयी है और विश्व के प्रायः प्रत्येक देश में इसके ग्राहक हैं.

मासिक पत्रिकाओं में अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की एक अन्य पत्रिका है **लन्दन मैगजीन**. १९५४ से लगातार प्रकाशित होने वाली इस पत्रिका की नयी सीरीज १९६० से प्रसिद्ध लेखक एलान रास के सम्पादकत्व में निकल रही है. इसके प्रत्येक अंक में प्रथम एवं मुख्य रचना प्रायः किसी विदेशी कवि या लेखक की होती है. इसके तीन चौथाई ग्राहक इंग्लैण्ड से बाहर हैं तथा इंग्लैण्ड से बाहर के साहित्यकारों की जितनी रचनाएं इस पत्रिका में प्रकाशित होती हैं उतनी सम्भवतः किसी अन्य ब्रिटिश पत्रिका में नहीं.

इस पत्रिका को भी **एनकाउण्टर** के समान अनेक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त लेखकों का सहयोग प्राप्त है तथा इस बात का भी गर्व है कि आज के कई प्रतिष्टित कवियों एवं लेखकों की रचनाएं सर्वप्रथम इस पत्रिका में ही प्रकाशित हुई थीं. कला, साहित्य, संगीत, चित्रकला, थियेटर, आदि विषयों पर इसमें स्थायी स्तम्भ हैं तथा इसमें अधिकांश लेख सचित्र प्रकाशित होते हैं.

एनकाउण्टर एवं **लन्दन मैगजीन** के समान अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की एक अन्य पत्रिका **न्यू लेफ्ट रिव्यू** है. १६६० में स्थापित इस द्वैमासिक पत्रिका का प्रत्येक अंक लगभग १०० पृष्ठों का होता है तथा इसमें राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक सभी विषयों पर बहुत ही उच्च स्तर के लेख प्रकाशित होते हैं.

जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, यह वामपन्थी पत्रिका है. १६६६ में हम जब युनिवर्सिटी कॉलेज, दारेस्सलाम (पूर्वी अफ्रीका) में थे तब इसका एक 'लीफलेट' हमें देखने को मिला था, वैसे इसके अंक तो हम इंग्लैण्ड में पहले ही देख चुके थे. उस 'लीफलेट' में इसे ब्रिटेन से प्रकाशित होने वाली नयी पत्रिकाओं में सर्वश्रेष्ठ एवं एकमात्र वामपन्थी पत्रिका बतलाया गया था. इसमें प्रकाशित लेख कुछ ही समय में विद्यार्थियों एवं विद्वानों—दोनों के लिए समान रूप से सन्दर्भ-लेख बन जाते हैं. इसकी ग्राहक-सूची देखन पर पता चलता है कि ब्रिटेन तथा अमेरिका के प्रायः प्रत्येक विश्वविद्यालय में यह पत्रिका जाती है. इसका एक कारण इस पत्रिका का वामपन्थी होना तो है ही, साथ ही यह भी कि इसका सम्पादन, प्रकाशन लन्दन में होता है. वह लन्दन, जिसे निःसंकोच विश्व के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक जीवन का चौराहा कहा जा सकता है. यूरोप, अमेरिका एवं तथाकथित तीसरी दुनिया के विचारों को एक ही मंच पर एक साथ उपस्थित करने वाली इस पत्रिका को अपनी अल्पायु में ही सही माने में अन्तर्राष्ट्रीय गौरव की पत्रिका कहलाने का श्रेय मिल गया. जैसे, उपन्यास पर इसने एक लम्बी परिचर्चा आरम्भ की, जिसमें इसने प्रसिद्ध लेखक **ज्यां पॉल सार्त्र, एंगस विलसन, इलिया एहरनबुर्ग और एलेन राब गिलेट** के विशेष लेख प्रकाशित किये.

न्यू लेफ्ट रिव्यू में प्रकाशित श्रेष्ठ रचनाओं में विदेशी (यूरोपीय एवं एशियाई दोनों) कहानी, कविता एवं उपन्यासों के लम्बे अंश प्रमुख हैं. इस क्षेत्र में यह उन देशों के साहित्य की ओर अधिक आकर्षित होती है जिनके सम्बन्ध में अभी उन देशों से बाहर कम जानकारी है. यथा इसने ईरान, हंगरी, जमैका और स्पेन के साहित्य एवं साहित्यकारों के सम्बन्ध में जो रचनाएं एवं अनुवाद प्रकाशित किये, उनकी साहित्य-जगत् में बड़ी प्रशंसा हुई.

पर **न्यू लेफ्ट रिव्यू** विशुद्ध साहित्यिक पत्रिका नहीं है, यह न बतलाना पाठकों के साथ अन्याय होगा. मूलतः यह एक राजनीतिक एवं सांस्कृ-

तिक पत्रिका है. इसके बावजूद इसके प्रायः प्रत्येक अंक में प्रकाशित होने वाली उत्कृष्ट साहित्यिक रचनाओं के कारण इसे सहज ही साहित्यिक पत्रिकाओं के साथ गिना जाता है.

अभी कुछ वर्ष पहले तक ब्रिटेन में **जान ओ लन्दन** नामक एक बहुत ही सुन्दर साप्ताहिक साहित्यिक पत्रिका निकलती थी. बाद में उसे **टाइम एण्ड टाइड** साप्ताहिक में मिला लिया गया. इस पत्र में बहुत-सी समीक्षाएं स्वतन्त्र विवरणात्मक लेखों के रूप में प्रकाशित होती रहीं. इसके लेखों की भाषा आलोचनात्मक कम, विवरणात्मक अधिक रही. इसके प्रत्येक अंक में प्रकाशित कहानी, कविता, समीक्षात्मक लेख, साहित्यिकों पर लेख तथा साहित्यिक चर्चा की अपनी अलग विशेषता थी. कुछ समय बाद उसे **टाइम एण्ड टाइड** से अलग कर एक मासिक पत्रिका **बुक्स आॅव द मन्थ** में मिला लिया गया. आजकल इन दोनों पत्रिकाओं का सम्मिलित रूप **बुक्स एण्ड बुकमेन** मासिक है. लोकप्रिय (पापुलर) पत्रिकाओं में यह पत्रिका हमें सर्वाधिक पसन्द है. इसके प्रत्येक अंक में नये प्रकाशनों से सम्बन्धित विशेष सूचनाएं (यथा उनकी पृष्ठभूमि, उनके प्रकाशन एवं उनकी सफलता-असफलता आदि की कहानी), साहित्यकारों के सम्बन्ध में सूचनाएं, लेखन एवं प्रकाशन-जगत सम्बन्धी विशेष लेख (ये लेख प्रायः प्रसिद्ध एवं सफल लेखकों द्वारा लिखे जाते हैं), लेखकों के अपने संस्मरण, स्वीकारोक्तियां, उनके चित्र, साहित्य के विविध रूपों एवं उनके रूपाकारों के सम्बन्ध में रोचक, ज्ञानवर्द्धक एवं जानकारी से परिपूर्ण लेख रहते हैं.[1]

यूनेस्को की सहायता से प्रकाशित होने वाली **इण्टरनेशनल पी० ई० एन०** नामक छोटी-सी (३६ पृष्ठों की) पत्रिका अपने नाम के अनुरूप सही माने में अन्तर्राष्ट्रीय है. इसके प्रत्येक अंक में किसी-न-किसी विदेशी साहित्य के सम्बन्ध में एक विद्वत्तापूर्ण परिचयात्मक लेख रहता है. इसके पिछले अंकों में प्रकाशित कुछ महत्वपूर्ण लेख हैं : **बुल्गारियाई साहित्य और समाजवादी यथार्थवाद, युद्धोत्तरकालीन सोवियत समीक्षा, समकालीन ग्रीक (यूनानी) साहित्य और बुल्गारिया में समकालीन उपन्यास**. हाल में ही इसका 'फिनिश अंक' निकला था जिसमें कुछ फिनिश लेखकों द्वारा उनकी अपनी उपलब्धियों एवं दृष्टिकोण पर लेख थे.

[1]. इस पत्रिका का प्रकाशन अब बन्द हो चुका है.

विदेशी साहित्य एवं साहित्यकारों के अतिरिक्त अन्य विषयों के साहित्यिक लेख तथा पुस्तकों की समालोचना भी इसके प्रत्येक अंक में प्रकाशित होती है. इसमें सभी रचनाएं फ्रान्सीसी तथा अंग्रेजी— इन दो भाषाओं में प्रकाशित होती हैं.

ब्रिटेन की सबसे पुरानी साहित्यिक पत्रिकाओं में दो नाम अभी तक जीवित हैं. ये हैं **नोट्स एण्ड क्वेरीज** तथा **कार्नहिल**.

नोट्स एण्ड क्वेरीज मासिक रूप में १८४० से निकल रही है. इसका उपशीर्षक है **पाठकों एवं लेखकों, संग्रहकर्त्ताओं तथा पुस्तकालयाध्यक्षों के लिए**. इसे आजकल निकल रही पत्रिकाओं में सबसे मँहगी भी कहा जा सकता है, क्योंकि इसका प्रत्येक अंक केवल ४० पृष्ठों का होता है और एक अंक का मूल्य होता है लगभग २०) रु. इसके बावजूद यदि यह पत्रिका बराबर निकल रही है और संसार के प्रायः सभी देशों में इसके ग्राहक हैं तो इसका कारण केवल यही है कि जो सामग्री इस छोटी-सी पत्रिका में मिलती है वह किसी भी अन्य पत्रिका में नहीं. इस पत्रिका को हम साहित्यिक संदर्भ पत्रिका कहना अधिक पसन्द करेंगे. क्योंकि जैसा इसके नाम से ही स्पष्ट है, इसके प्रत्येक अंक में महत्वपूर्ण साहित्यिक गुत्थियों पर टिप्पणियां, विवादास्पद प्रश्नों पर पाठकों के विचार, जो शब्द आक्सफोर्ड एव मरियम वेब्स्टर जैसे शब्दकोशों में भी नहीं मिलें, उनके अर्थ एवं उत्पत्ति का यथा सम्भव पूरा विवरण तथा साहित्यिक प्रश्न एवं उनके उत्तर रहते हैं.

कार्नहिल त्रैमासिक पत्रिका है तथा इसका प्रकाशन १८६० से बराबर हो रहा है. इसके प्रत्येक अंक में आलोचनात्मक एवं गवेषणात्मक लेखों के साथ-ही-साथ विदेशी लेखकों की कृतियां एवं उनका परिचय भी रहता है. आज के कुछ प्रसिद्ध लेखक एवं कवि पहली बार इस पत्रिका के माध्यम से ही प्रकाश में आये थे.

समीक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण पत्रिकाओं में तीन त्रैमासिकों के नाम सहज ही सामने आ जाते हैं. ये हैं—**एसेज इन क्रिटिसिज्म, क्रिटिकल क्वार्टरली** और **रिव्यू आव इंगलिश लिटरेचर.**

एसेज इन क्रिटिसिज्म का उपशीर्षक ही है **साहित्यिक समीक्षा का त्रैमासिक.** पिछले ४० वर्षों से नियमित प्रकाशित होने वाली लगभग १३०-१४० पृष्ठों की इस पत्रिका के ४ सम्पादकों में से ३ ऑक्सफोर्ड

विश्वविद्यालय से सम्बद्ध हैं. सम्पादकों के सम्मिलित प्रयास से इसका स्वतन्त्र प्रकाशन होता है. वस्तुतः प्रारम्भिक कुछ वर्षों तक सम्पादक ही इसके प्रकाशक रहे. पर अब इसका प्रकाशन भार ऑक्सफोर्ड के प्रसिद्ध प्रकाशक बेसिल ब्लेकवेल ने ले लिया है.

इस पत्रिका को कभी भी किसी सार्वजनिक या निजी सूत्रों से आर्थिक सहायता नहीं मिली, पर विश्व के प्रायः सभी देशों में इसके एक हजार से अधिक स्थायी ग्राहक हैं इस पत्रिका की श्रेष्ठता एवं उच्च स्तर का अनुमान केवल इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि इसके पिछले सभी अंक अब अप्राप्य हैं तथा प्रथम दस वर्षों के पूरे सेट का पुनर्मुद्रण एम्स्टर्डम (हालैण्ड) के एक प्रकाशक ने किया है. पता चला है कि ११वें वर्ष से लेकर १५वें वर्ष तक के अंकों का पुनर्मुद्रण भी अमेरिका की एक प्रकाशन संस्था द्वारा हुआ है.

वैसे तो इसमें प्रकाशित होने वाले उच्चकोटि के आलोचनात्मक निबन्धों का विषय प्राचीन काल से लेकर अब तक का सभी प्रकार का साहित्य एवं साहित्यिक कृतियां ही होती हैं पर प्रमुखता २०वीं सदी से पूर्व के साहित्य एवं साहित्यकारों को दी जाती है. समीक्षा के क्षेत्र में यह पत्रिका सही माने में पूर्णतः निष्पक्ष एवं गुटबन्दी से दूर है. इसमें प्रकाशित कई लेखों को श्रेष्ठ समीक्षा संग्रहों में सम्मिलित किया गया है. इसमें अब तक **डिकन्स, लैंगलैण्ड, वर्ड्सवर्थ, चासर, ऑडेन, जेन ऑस्टेन, शेक्सपियर, फीलिंडग, प्रूस्त, टेनीसन, डेविड कॉपरफील्ड, ग्रेट एक्सपेक्टेशन्स, टामजोन्स** आदि पर कई ऐसे लेख प्रकाशित हुए हैं जिनकी साहित्य-जगत में काफी चर्चा हुई है.

१९५७ से प्रकाशित होने वाले **क्रिटिकल क्वार्टरली** का सम्पादन नारिच एवं हल विश्वविद्यालयों के कुछ प्रोफेसरों द्वारा तथा प्रकाशन ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस द्वारा होता है. यह पत्रिका प्रकाशित रचनाओं पर पारिश्रमिक नहीं देती फिर भी इसे सभी अच्छे लेखकों का सहयोग प्राप्त है. इसकी सम्पादन-समिति में कई प्रसिद्ध समीक्षक, लेखक एवं कवि रह चुके हैं और अभी भी हैं, जिनमें बोनामी डोबरी, विलियम एम्पसन, ए० आर० हम्फ्रीज, फ्रेंक कर्मोड, ऑर्नोल्ड केटिल, फिलिप लार्किन, केनेथ म्यूर तथा एंगस विलसन के नाम उल्लेखनीय हैं.

यद्यपि इस पत्रिका का विषय-क्षेत्र मुख्यतः २०वीं सदी के साहित्य तक ही सीमित है, समय-समय पर इसमें २०वीं सदी के पूर्ववर्ती साहित्य

एवं साहित्यकारों के सम्बन्ध में भी रचनाएं प्रकाशित होती हैं. इसके एक सम्पादक से व्यक्तिगत वार्त्ता के दौरान हमें पता चला कि इसमें नये-पुराने कवियों तथा लेखकों की रचनाएं मुख्यतः योग्यता के आधार पर प्रकाशित होती हैं न कि नाम के आधार पर. वैसे इसके अधिकांश लेखक विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक एवं प्रोफेसर ही हैं. इसके लगभग १०० पृष्ठों के प्रत्येक अंक में सामान्यतः एक लम्बा आलोचनात्मक लेख, ५-६ कविताएं तथा ८-१० छोटे लेख रहते हैं.

समकालीन (बीसवीं सदी की) साहित्यिक समीक्षा को प्रश्रय देने वाली **क्रिटिकल क्वार्टरली** की तुलना में हम एक दूसरी त्रैमासिक **पत्रिका रिव्यू ऑव इंग्लिश लिट्रेचर** को ले सकते हैं जो समकालीन साहित्य एवं साहित्यकारों सम्बन्धी किसी भी रचना पर विचार नहीं करती. १९५८ से निकल रही इस पत्रिका के अधिकांश लेखक विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक हैं. इसका प्रकाशन ब्रिटेन के प्रसिद्ध प्रकाशक लांगमेंस द्वारा होता है. इस पत्रिका का मुख्य उद्देश्य अंग्रेजी साहित्यकारों एवं कवियों पर उच्चकोटि का आलोचनात्मक अध्ययन तथा साहित्य की विविध विधाओं पर विचार-विमर्श है. लेखकों की पाण्डुलिपियों एवं पत्र-व्यवहार आदि पर भी इसमें समय-समय पर अनुसन्धानपूर्ण विचारोत्तेजक लेख प्रकाशित होते रहते हैं. अब तक इसमें **थैकरे, किपलिंग, ईट्स, ओ केसी, ऑर्थर साइमन्स, अमेलिया एडवर्ड्स, गेस्केल, डिकेन्स** तथा १९वीं सदी की पत्र-पत्रिकाओं आदि विषयों पर महत्वपूर्ण लेख निकल चुके हैं.

इसी प्रकार की एक और पत्रिका है **रिव्यू ऑव इंग्लिश स्टडीज.** अंग्रेजी भाषा एवं साहित्य-सम्बन्धी यह पत्रिका १९२५ से निकल रही है तथा इसका प्रकाशन ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस द्वारा होता है. इसके प्रत्येक अंक में लगभग आधे पृष्ठ आलोचना एवं समीक्षा से भरे रहते हैं. इसका एक मुख्य स्तम्भ है **समरी ऑव पीरियोडिकल लिट्रेचर** (पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित सामग्री का सारांश) जिसमें अंग्रेजी भाषा एवं साहित्य से सम्बन्धित करीब ५० पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित महत्वपूर्ण लेखों की सूचना रहती है. फ्रान्सीसी, जर्मन, डच, आदि भाषाओं की पत्रिकाएं भी इसमें शामिल हैं. इस पत्रिका का **संक्षिप्त टिप्पणियां** स्तम्भ भी साहित्य-प्रेमियों के लिए महत्वपूर्ण है.

प्रमुख त्रैमासिक पत्रिकाओं में इंग्लिश एसोसियेशन द्वारा प्रकाशित **इंग्लिश** का उल्लेख भी आवश्यक हो जाता है. पिछले करीब ३५ वर्षों से प्रकाशित हो रही इस पत्रिका में अंग्रेजी भाषा एवं साहित्य-सम्बन्धी लेख, सूचनाएं, पुस्तकों की भाषा की दृष्टि से समीक्षा, अंग्रेजी भाषा एवं साहित्य का अध्ययन-अध्यापन, नाटक (दृश्य एवं पाठ्य दोनों), अंग्रेजी साहित्य और समीक्षा, काव्य, समालोचना, आदि भाषा एवं साहित्य के सभी अंगों पर लेख रहते हैं. इसके प्रत्येक अंक में एक लम्बा सूचनात्मक आलोचनात्मक लेख भी रहता है.

अब तक जिन पत्रिकाओं का उल्लेख किया गया है उनमें वैसे तो साहित्य की सभी विधाओं—कहानी, कविता, उपन्यास आदि—को समान रूप से स्थान दिया जाता है तथा इनके सम्बन्ध में रचनाएं प्रकाशित होती हैं, ब्रिटेन में कुछ ऐसी पत्रिकाएं भी प्रकाशित होती हैं जो साहित्य की किसी एक विधा तक ही सीमित हैं.

ऐसी पत्रिकाओं में कविता के क्षेत्र में **पोएट्री सोसायटी** द्वारा प्रकाशित **पोएट्री रिव्यू** को शीर्ष स्थान पर रखा जा सकता है. १९५९ में इस पत्रिका की स्वर्ण-जयन्ती मनायी गयी थी. इस पत्रिका में केवल विशिष्ट योग्यता वाली कविताएं एवं कविता से सम्बन्धित उच्चकोटि का गद्य ही प्रकाशित होता है. कविताओं में भी प्रायः छोटी-छोटी कविताओं को ही स्थान दिया जाता है तथा ३० पंक्तियों से अधिक लम्बी कविताएं शायद ही स्थान पाती हैं. इसकी विषय-सामग्री में वैसे तो अधिकांश कविताएं ही होती हैं पर कवियों पर परिचयात्मक एवं प्रशंसात्मक लेख तथा कविता से सम्बन्धित विशेष लेख भी प्रकाशित होते हैं.

समय-समय पर यह पत्रिका काव्य-प्रतियोगिताएं भी आयोजित करती है. उदाहरणतः अभी कुछ समय पूर्व मिल्टन की विविध कृतियों से कविताओं की कुछ पंक्तियां लेकर प्रतियोगियों से यह पूछा गया कि वे किन-किन कविताओं से ली गयी हैं. इससे पाठकों को कवि-विशेष की कृतियों में रुचि तो होती ही है, कवियों एवं उनकी कृतियों के सम्बन्ध में उनका ज्ञान भी बढ़ता है. वस्तुतः इस प्रकार की प्रतियोगिताओं का उद्देश्य पाठकों के मनोरंजन के साथ-ही-साथ उन्हें कविता की शिक्षा देना भी होता है.

पोएट्री सोसायटी द्वारा प्रकाशित एक अन्य त्रैमासिक पत्रिका **वायस ऑव यूथ** भी है, जो केवल कविता से सम्बन्धित है तथा २१ वर्ष से

कम उम्र के पाठकों के लिए है. इसमें नये कवियों की रचनाएं तथा उनके लिए उपयोगी विषयों, यथा—कवि कैसे लिखते हैं, प्रसिद्ध कविताओं में प्रयुक्त विशेष शब्दों के अर्थ, कविता का इतिहास (लोक-गीतों से लेकर समकालीन कविता तक), अधुनातन कवियों के नये माध्यम, कविता कैसे लिखी तथा पढ़ी जाए, आदि विषयों पर लेख भी प्रकाशित होते हैं. समय-समय पर यह पत्रिका भी कविता सम्बन्धी प्रतियोगिताएं आयोजित करती है.

पोएट्री सोसायटी कवियों एवं काव्य-प्रेमियों की विश्व की सब से बड़ी संस्था है. इसके द्वारा प्रकाशित होने वाली उक्त दोनों पत्रिकाएं इसकी प्रतिष्ठा के अनुरूप उच्च कोटि की हैं.

कविता के क्षेत्र में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है—**एम० पी० टी०** याने **मॉडर्न पोएट्री इन ट्रान्सलेशन** जिसके सम्पादक हैं प्रसिद्ध कवि टेड ह्यू. जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, यह पत्रिका एक निश्चित उद्देश्य को लेकर निकलती है. उसका यह उद्देश्य साहित्य के लिए बहुत उपयोगी है और अपने इस प्रयास में वह सफल भी हुई है. ब्रिटेन की आर्ट्स कौन्सिल से सहयोग प्राप्त इस पत्रिका का पहला अंक हमें जुलाई १९६६ में दारेस्सलाम में देखने को मिला था. अब तक प्रकाशित इसके पिछले अंक देखने से पता चलता है कि इसके प्रत्येक अंक में कुछ चुने हुए कवियों की कम से कम इतनी कविताएं तो अवश्य दी जाती हैं कि उनसे पाठकों को उसकी विविध दिशाओं - काव्य प्रवृत्तियों—का परिचय मिल सके. इस माने में यह पत्रिका अन्य पत्रिकाओं से भिन्न इसलिए भी कही जा सकती है कि साधारणतः अन्य पत्रिकाओं में एक अंक में किसी एक कवि की एक, दो या तीन कविताएं ही दी जाती हैं पर इसमें १०-१५ कविताएं होना सामान्य बात समझना चाहिए. इसके प्रथम अंक में ही इसरायल, पोलेण्ड, चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया और रूस के कवियों की लगभग ५० कविताएं दी गयी थीं.

कविताओं के प्रारम्भ में प्रत्येक कवि का संक्षिप्त पर आवश्यक सूचनाओं से परिपूर्ण परिचय रहता है. प्रथम अंक में केवल जीवन एवं ग्रन्थ-सूची तक ही परिचय सीमित रहा पर बाद के अंकों में आलोचनात्मक परिचय भी दिया जाने लगा. वैसे तो इसके प्रत्येक अंक में ८-१० विदेशी कवियों की रचनाओं के अनुवाद रहते हैं, समय-समय

पर इसके विशेषांक भी निकलते हैं जो किसी एक देश (या भाषा) तक ही सीमित रहते हैं. अब तक फ्रान्सीसी, स्केण्डिनेवियन, जर्मन, लैटिन अमेरिकी, इसरायली व रूसी अंक निकल चुके हैं. इस पत्रिका का पहला अंक दैनिक समाचारपत्रों के नाप का तथा पतले एअर मेल कागज पर छपा था. बाद के अंकों का नाप पहले से आधा कर दिया गया तथा उनमें कागज भी कुछ मोटा लगाया जाने लगा है.

अंग्रेजी के 'प्ले', 'ड्रामा' और 'थियेटर' इन तीनों शब्दों के लिए हिन्दी में प्रायः एक शब्द 'नाटक' का प्रयोग होता है पर ये तीनों पर्यायवाची नहीं हैं. अंग्रेजी में 'थियेटर' शब्द का प्रयोग दृश्य नाटक के लिए तथा 'प्ले' का प्रयोग लिखित व पाठ्य नाटक के लिए किया जाता है. 'ड्रामा' का प्रयोग अभिनय के लिए लिखे गये नाटक के लिए होता है. ऐसा भी कह सकते हैं कि 'प्ले' का प्रयोग साहित्य (लिखित रूप) के लिए किया जाता है, 'थियेटर' का कला (दृश्य रूप के लिए) और 'ड्रामा' का प्रयोग अभिनय योग्य 'प्ले' के लिए. नाटक सम्बन्धी पत्रिकाओं में **गेम्बिट** और **न्यू थियेटर क्वार्टरली** ये दो पत्रिकाएं मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं. **गेम्बिट** एक अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिका है जिसने अपने पहले अंक से ही एकाएक नाटक-प्रेमियों का ध्यान आकर्षित कर लिया. **गेम्बिट** साहित्यिक पत्रिका है. इसका प्रकाशन मार्च १९६३ में एक त्रैमासिक के रूप में हुआ था पर ७ अंक निकलने के बाद ही इसकी मांग इतनी अधिक बढ़ी कि यह द्वैमासिक हो गयी.

गेम्बिट अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिका इस अर्थ में भी है कि इसके सलाहकार सम्पादक-मण्डल में अमेरिका, इटली, फ्रान्स, स्पेन, इसरायल, आस्ट्रिया, भारत, आस्ट्रेलिया, आयरलैण्ड, युगोस्लाविया, जर्मनी, हालेण्ड, बेलजियम, पोलेण्ड, कनाडा, चेकोस्लोवाकिया, बुलगारिया, स्वीडन आदि देशों के विद्वान् हैं. इसके प्रत्येक अंक में नये नाटक (मूल रूप में), विदेशी नाटकों के अनुवाद, लन्दन तथा अन्य नाट्य-केन्द्रों में (थियेटरों में) भविष्य में प्रदर्शित किये जाने वाले नाटकों को रूपरेखा, नये विवादग्रस्त नाटकों की समीक्षा तथा नाटक के सम्बन्ध में अधिकारी विद्वानों के लेख रहते हैं.

किसी भी देश में नाटक के सम्बन्ध में अब तक जितना अधिक लिखा-पढ़ा गया है, उसका शतांश भी व्यवहार में नहीं लाया गया. इसके परिणाम स्वरूप नाटककार बहुत कम हैं और बहुत कम नाटक लिखे

गये हैं. जो थोड़े से लेखक नाट्य-लेखन की ओर प्रवृत्त होते हैं, वे भी देर-सबेर 'थियेटर' की ओर उन्मुख हो जाते हैं. प्रायः सभी देशों में यही स्थिति है जिससे नाट्य-प्रेमी चिन्तित हैं. इस बिगड़ती हुई स्थिति को रोकने के लिए और नाटककारों के लिए एक माध्यम उपस्थित करने के उद्देश्य से **गेम्बिट** का प्रकाशन आरम्भ किया गया था. **गेम्बिट** अपने उद्देश्य में सफल भी हुआ. क्योंकि इसने अपने पहले दो वर्षों में १३ नाटक मूल रूप में प्रकाशित किये जो ५३ बार कई देशों में खेले गये.

न्यू थियेटर मैगजीन अपने नाम के अनुरूप एक दृश्य नाट्य पत्रिका है जिसमें स्टेज और नाटक सम्बन्धी प्रायः सभी विषयों पर लेख, प्रसिद्ध नाटककारों एवं सम्बन्धित लोगों के इन्टरव्यू, प्रमुख देशों में नाटक की स्थिति, प्रमुख नाट्यशालाओं की गतिविधि तथा इसी प्रकार की अन्य सूचनाएं-सामग्री रहती हैं. यह पत्रिका १९६० से त्रैमासिक रूप में ब्रिस्टल विश्वविद्यालय के 'ड्रामा विभाग' से निकल रही है.

अंग्रेजी साहित्य से सम्बन्धित कुछ ऐसी वार्षिक पत्रिकाएं भी ब्रिटेन में प्रकाशित होती हैं जो अपने प्रत्येक अंक में पिछले एक वर्ष का लेखा-जोखा प्रस्तुत करती हैं. ऐसी पत्रिकाओं में **ईयर्स वर्क इन इंग्लिश स्टडीज** और **एन्युअल बिब्लियोग्राफी आव इंग्लिश लिट्रेचर** प्रमुख हैं.

इंग्लिश एसोसिएशन द्वारा प्रकाशित **ईयर्स वर्क इन इंग्लिश स्टडीज** का प्रत्येक अंक लगभग ४०० पृष्ठों का होता है तथा उसमें अंग्रेजी भाषा और साहित्य का पिछले वर्ष का लेखा-जोखा रहता है. इसे तैयार करने के लिए विविध देशों में प्रकाशित होने वाली लगभग २५० पत्र-पत्रिकाओं की छानबीन की जाती है. इसके १५ परिच्छेदों में अंग्रेजी भाषा एवं साहित्य सम्बन्धी अलग-अलग विषयों का विवेचन रहता है तथा प्रत्येक परिच्छेद अधिकारी विद्वान द्वारा लिखवाया जाता है. इसके कुछ परिच्छेदों के शीर्षक हैं--साहित्य का इतिहास और आलोचना, अंग्रेजी भाषा, प्राचीन अंग्रेजी साहित्य, शेक्सपियर, उत्तर-ट्यूडर काल, १८ वीं सदी, १९वीं सदी, अमेरिकी साहित्य, आदि.

इंग्लिश एसोसिएशन द्वारा ही प्रकाशित एक और वार्षिक पत्रिका है **एसेज एण्ड स्टडीज**. इसका प्रत्येक अंक विशेष रूप से लिखवाये गये

लेखों का संग्रह होता है. ये लेख अपने विषय के अनुभवी एवं विद्वान् लेखकों द्वारा तैयार किये जाते हैं और मुख्यतः भाषा एवं साहित्य सम्बन्धी तथा विचारात्मक होते हैं.

एन्युअल बिब्लियोग्राफी ऑव इंग्लिश लिट्रेचर के प्रत्येक अंक को पिछले एक वर्ष का अंग्रेजी साहित्य सम्बन्धी सूचीपत्र कहना गलत नहीं होगा. इसका प्रकाशन कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के डाउनिंग कालेज में स्थित **माडर्न ह्यूमेनिटीज रिसर्च एसोसियेशन** द्वारा होता है तथा इसके प्रत्येक अंक में २० से अधिक परिच्छेदों में ७००० से अधिक सन्दर्भ रहते हैं. इसके परिच्छेदों को तैयार करने में विश्व की सभी भाषाओं में प्रकाशित होने वाली ३५० से अधिक साहित्यिक पत्रिकाओं की सहायता ली जाती है. इसके अब तक ५० से अधिक अंक निकल चुके हैं.

ब्रिटेन में कुछ ऐसी पत्रिकाएं भी प्रकाशित होती हैं जो किसी एक साहित्यकार मात्र से सम्बन्धित होती हैं और जिनमें केवल उसी से सम्बन्धित रचनाएं स्थान पाती हैं. ये विशिष्ट पत्रिकाएं सामान्यतः वार्षिक रूप में प्रकाशित होती हैं और अधिकांश देखने में पुस्तकों के समान मोटी और जिल्द बंधी हुई होती हैं. पर इनका प्रकाशन नियमित रूप से और एक निश्चित अवधि के अन्तर से होने से इनकी गणना पत्रिकाओं में आसानी से हो जाती है.

ऐसी पत्रिकाओं में पिछले २५ वर्षों से बराबर प्रकाशित हो रहे **शेक्सपियर सर्वे** का नाम सबसे पहले सामने आता है. इसके प्रत्येक अंक में शेक्सपियर एवं उसकी कृतियों से सम्बन्धित पिछले एक वर्ष का लेखा-जोखा रहता है. प्रत्येक अंक शेक्सपियर से सम्बन्धित किसी एक विषय को लेकर होता है तथा उसके लिए प्रायः सभी देशों के 'शेक्सपियर-विशेषज्ञों' की रचनाएं प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है. प्रत्येक अंक में **शेक्सपियर के अध्ययन में पिछले एक वर्ष का योगदान** शीर्षक एक लम्बा लेख भी रहता है.

शेक्सपियर सर्वे का प्रकाशन बर्मिघम व मैन्चेस्टर विश्वविद्यालयों तथा **रायल शेक्सपियर थिएटर** और **शेक्सपियर बर्थप्लेस ट्रस्ट** के संयुक्त तत्वावधान में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस द्वारा होता है. १९६५ तक इसके प्रधान सम्पादक विश्वविख्यात नाट्य समीक्षक प्रोफेसर **एलारडाइस निकोल** थे. इसके सम्पादक-सलाहकार मण्डल में कई देशों के प्रतिनिधि हैं.

इसी प्रकार की एक और पत्रिका है **डिकेन्सियन** जिसके वर्ष में तीन अंक प्रकाशित होते हैं. यह पत्रिका १९०५ से बराबर प्रकाशित हो रही है. इसमें **चार्ल्स डिकेन्स** एवं उसकी रचनाओं से सम्बन्धित सामग्री दी जाती है.

किसी भी भाषा की साहित्यिक पत्रिकाओं के सम्बन्ध में लिखा गया कोई भी लेख तब तक अपूर्ण ही समझा जाएगा जब तक उसमें लघु पत्रिकाओं (लिटिल मैगन्जीन्स) का उल्लेख न हो. लघु पत्रिकाएं क्यों निकलती हैं, इनका प्रकाशन कौन करता है, तथा इनसे साहित्य का क्या लाभ होता है, इन प्रश्नों की चर्चा यहां अप्रासंगिक होगी पर हमें विश्वास है कि इस लेख के पाठकों के लिए लघु पत्रिकाओं की परिभाषा आवश्यक नहीं है.

ब्रिटेन में प्रकाशित होने वाली लघु पत्रिकाओं की संख्या भी कम नहीं है, वैसे तो साहित्यिक पत्रिकाओं की ग्राहक-संख्या अन्य पत्रिकाओं की तुलना में कम ही होती है और उनका प्रकाशन-व्यय भी वर्ष-प्रतिवर्ष वढ़ता ही जाता है, फिर भी ब्रिटेन में इस समय लगभग १०० लघु पत्रिकाओं का प्रकाशन नियमित रूप से पिछले कुछ वर्षों से हो रहा है और देखने में यही आ रहा है कि प्रत्येक दूसरे तीसरे वर्ष किसी-न-किसी नयी पत्रिका के प्रकाशन की सूचना मिलती रहती है. इससे पता चलता है कि साहित्यिक पत्रिकाओं के पाठक भले ही अधिक न हों पर उनके लेखक अवश्य ही वर्तमान में निकल रही पत्रिकाओं की तुलना में अधिक हैं. शायद यही कारण है कि जब 'स्थापित' (या बड़ी) पत्रिकाएं इन लेखकों को नहीं पचा पातीं तो इनकी रचनाओं को स्थान देने के लिए किसी-न-किसी लघु पत्रिका का उदय हो जाता है. वैसे देखा जाए तो इस प्रकार की पत्रिकाओं का उद्गम विश्वविद्यालयों के साहित्य विभाग या छात्रों की ओर से ही होता है और ब्रिटेन में तो यह प्रवृत्ति जोरों पर है.

विश्वविद्यालयों से निकलने वाली या वहां के छात्रों को साहित्यिक प्रवृत्तियों से परिचित कराने वाली पत्रिकाओं में सबसे पहला नाम आता है **यूनीवर्सिटीज पोएट्री** का. १९५८ से **कील विश्वविद्यालय** से निकलने वाली इस वार्षिक पत्रिका का मुख्य उद्देश्य ब्रिटेन के विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले छात्रों की अच्छी कविताओं को प्रकाश में लाना है. वैसे इसकी नीति यही है कि साहित्य पर ऑक्सफोर्ड और

कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों ने जो एकाधिकार-सा कर रखा है उसे दूर कर पाठकों को यह बतलाना कि अन्य विश्वविद्यालयों में भी अच्छे एवं पाठ्य-साहित्य (कविता) के लेखक एवं कवि हैं. शायद यही कारण है कि ऑक्सफोर्ड एवं कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों के छात्रों की रचनाएं इसके अब तक के अंकों में बहुत ही कम देखने में आयी हैं.

कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से दो पत्रिकाएं निकलती हैं. **डेल्टा** का प्रकाशन १९५३ से हो रहा है तथा वर्ष में इसके तीन अंक निकलते हैं. **किंग्स कॉलेज** से निकलने वाली यह पत्रिका अब तक 'स्थापित' पत्रिकाओं की श्रेणी में आ चुकी है और इसकी गणना ब्रिटेन से बाहर भी अच्छी लघु-पत्रिकाओं में होती है. इसका प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि अमेरिका के कई विश्वविद्यालयों के साहित्य-विभाग इसके स्थायी ग्राहक हैं.

यह पत्रिका साहित्य के विविध रूपों से सम्बद्ध है तथा इसने प्रारम्भ से ही ऐसी कलमों को प्रोत्साहन दिया है जिनका भविष्य उसे आशाजनक लगा है. इसके पिछले कुछ अंकों में साहित्य के सिद्धान्त सम्बन्धी कुछ अच्छे लेख प्रकाशित हुए हैं. कैम्ब्रिज से निकलने वाली दूसरी पत्रिका है **प्रॉस्पेक्ट** जिसके इधर के कुछ अंकों में कुछ अच्छी कविताएं और कहानियां देखने को मिली हैं. यह पत्रिका **सेण्ट जॉन्स कॉलेज** से निकलती है.

कैम्ब्रिज और ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालयों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि ये दोनों ब्रिटेन के 'क्लासिकल' विश्वविद्यालय हैं और दोनों ही हर क्षेत्र में एक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते रहते हैं. प्रकाशन के क्षेत्र में भी दोनों एक-दूसरे से टक्कर लेते हैं. इस बात की पुष्टि अभी कुछ वर्ष पूर्व की एक घटना से सहज ही हो जाती है.

दोनों ही विश्वविद्यालयों से १९६६ में एक-एक साहित्यिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ जिनके नाम हैं **कैम्ब्रिज क्वार्टरली** और **ऑक्सफोर्ड रिव्यू**. दोनों ही पत्रिकाओं की छपाई-सफाई, आकार-प्रकार और सामग्री आदि में इतना अधिक साम्य है कि यदि दोनों के आवरण पृष्ठ (कवर) हटा दिये जाएं तो एक को दूसरे से अलग करना मुश्किल हो जाए. यद्यपि इन दोनों का प्रकाशन लघु-पत्रिकाओं के रूप में हुआ पर दो वर्ष के अन्दर ही दोनों की गणना विशिष्ट साहित्यिक पत्रिकाओं में होने लगी.

दोनों पत्रिकाओं में से किसका प्रकाशन पहले आरम्भ हुआ, यह कहना भी कठिन है. क्योंकि दोनों के प्रथम अंक का प्रकाशन-काल समान है भले ही पाठकों के हाथों में **कैम्ब्रिज क्वार्टरली** की अपेक्षा **ऑक्सफोर्ड रिव्यू** ५-६ माह बाद पहुँचा हो.

ऑक्सफोर्ड रिव्यू के वर्ष में तीन अंक निकलते हैं तथा इसमें साहित्य, कला, शिक्षा एवं अन्य विषयों पर रचनाएं रहती हैं. इसका प्रकाशन युनिवर्सिटी कॉलेज, ऑक्सफोर्ड से होता है.

कैम्ब्रिज क्वार्टरली मुख्यतः आलोचनात्मक पत्रिका है. इसका मुख्य ध्येय उन साहित्यिक कृतियों पर पाठकों का ध्यान दिलाना है जिनकी ओर अभी तक आलोचकों ने अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया है या जिनके साथ अभी तक उचित न्याय नहीं हो पाया है. इसमें महत्वपूर्ण विद्वत्तापूर्ण पुस्तकों की समीक्षा की जाती है तथा अंग्रेजी साहित्य के साथ-ही-साथ फ्रान्सीसी, जर्मन एवं अमेरिकी साहित्य पर भी विशेष रूप से लेख दिये जाते हैं. वैसे तो यह मुख्यतः एक साहित्यिक पत्रिका ही है, पर इसमें दर्शन, इतिहास, संस्कृति, समाज शास्त्र आदि विषयों पर ऐसे लेख भी प्रकाशित किये जाते हैं जो नयी दृष्टि से लिखे गये हों तथा नयी दिशाओं का बोध कराते हों. रूढ़ियों से दूर रहने वाली यह पत्रिका साहित्य को उस पंक में से निकालने पर तत्पर है जो तथा-कथित आचार्यों ने दशकों से जमा कर रखा है और जिस पर वे अपना एकाधिकार जमाये हुए हैं. यह पत्रिका अपने नाम में 'कैम्ब्रिज' शब्द रखते हुए भी कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से असम्बद्ध है तथा यह सम्पादकों द्वारा ही प्रकाशित की जाती है.

ब्रिटेन के विश्वविद्यालयों से निकलने वाली कुछ अन्य उल्लेखनीय पत्रिकाएं हैं—**लेपर्डेस** (क्वीन मेरी कॉलेज, लन्दन) जो १९३६ से प्रकाशित हो रही है. वर्ष में इसके तीन अंक निकलते हैं. लेस्टर विश्व-विद्यालय के छात्र संघ की ओर से १९४६ से **लूसियाड** नामक पत्रिका निकलती है और लिवरपूल से १९५९ से अर्द्ध-वार्षिक **फिनिक्स**. लीड्स से एक साप्ताहिक पत्रिका **पोएट्री एण्ड आडिएन्स** १९५३ से निकल रही है. ऑक्सफोर्ड के केबिल कॉलेज से १९५९ से **टुमारो** नामक त्रैमा-सिक का प्रकाशन होता है और वहीं के रस्किन कॉलेज से १९४६ से वार्षिक रूप में **न्यू इपोक** निकल रही है. रेडिंग विश्वविद्यालय से १९६० से मासिक **केनेट रिव्यू** और साउथेम्पटन विश्वविद्यालय से अर्द्धवार्षिक

सेकण्ड वेसेक्स १९३६ से निकल रही है. ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज से संयुक्त रूप में एक त्रैमासिक **जेमिनी** भी १९५७ से निकल रही है।

विश्वविद्यालयों से वाहर निकल रही लघु-पत्रिकाओं में १९६० से निकलने वाली त्रैमासिक **स्टेण्ड** का उल्लेख सबसे पहले आवश्यक इसलिए हो जाता है कि इस पत्रिका ने अपने प्रकाशन के कुछ हो वर्षों में ब्रिटेन के प्रमुख आलोचकों का ध्यान आकर्षित किया और पत्र-पत्रिकाओं में इसकी अच्छी आलोचना हुई. यह पत्रिका **नार्थ ईस्टर्न एसोसियेशन फॉर द आर्ट्स** द्वारा प्रकाशित होती है तथा उसके उच्च स्तर को देखते हुए अब ब्रिटेन की आर्ट्स कौन्सिल की ओर से उसे प्रकाशन के लिए कुछ अनुदान मिलने लगा है.

इस पत्रिका में वैसे तो थियेटर, संगीत, दृश्य-श्रव्य कलाएं, चित्रकारी, साहित्य आदि सभी विषयों पर गम्भीर एवं विचारोत्तेजक लेख प्रकाशित होते हैं, पर इसका झुकाव मुख्य रूप से कविता पर है. यह उन लड़खड़ाते कवियों के लिए एक सहारे के रूप में है जो स्वाभिमानी हैं और जिनमें प्रतिभा है पर अभी तक जिनकी प्रतिभा को 'स्थापित' पत्रिकाओं से कोई प्रोत्साहन नहीं मिल पाया है. पर केवल इन्हीं कवियों से ही 'स्टेण्ड' के पृष्ठ नहीं भरे रहते. सन्तुलन बनाये रखने के लिए 'स्टेण्ड' में अन्य भाषाओं की सभी विधाओं के अनुवाद भी प्रकाशित होते हैं. कोई अनुवाद केवल इसीलिए प्रकाशित नहीं किया जाता कि वह 'अनुवाद' है. उसे तभी प्रकाशित किया जाता है जब उसके मूल लेखक एवं अनुवादक में निश्चय ही योग्यता की कुछ झलक मिलती है. हाल के कुछ अंकों में में वाबेल, पास्तोव्सको, वोजनेसेन्सकी, एलुआर्ड, क्वासीमोडो, वाले जो, तुर्की कवि नाजिम हिकमत और कई फिनिश लेखकों एवं कवियों की रचनाओं के अनुवाद प्रकाशित हुए हैं.

नये लेखकों को प्रकाश में लाने वाली एक और पत्रिका है **एक्स** जो त्रैमासिक रूप में लन्दन से प्रकाशित होती है. अपने विचारों में यह कला और साहित्य को एक मंच पर जोड़ने का प्रयत्न करती है. इसी प्रकार की एक और पत्रिका है **एम्बिट** जो लन्दन से ही निकलती है यह नयी कलम की असाधारण रचनाएं प्रकाशित करने के लिए प्रसिद्ध है. असाधारण इस अर्थ में कि इसमें अकसर ऐसी रचनाएं प्रकाशित होती हैं जिनके लिए शायद अन्य पत्रों में स्थान नहीं मिल पाता. नवी-

नता के नाम पर इसके पिछले कुछ अंकों में ऐसी रचनाएं भी प्रकाशित हुई हैं जिन्हें देखकर ही पता चल जाता है कि इनका उद्देश्य पाठकों को सहसा स्तम्भित कर देना है पर यह प्रभाव पाठकों पर अधिक समय तक नहीं रह पाता. इसके एक अंक में केवल उस प्रकार की रचनाएं थीं जो नशीली दवाओं (Drugs) के प्रभाववश लिखी गयी थीं. **एम्बिट** वस्तुतः इस प्रकार के नये साहित्य-रूप को जन्म देने का दावा करती है.

बाथ से प्रकाशित होने वाली **यूनीकार्न**, चेल्टनहम से प्रकाशित **एनवाय** और न्यू कासिल से **प्रकाशित सतीस**—इन तीनों ही पत्रिकाओं के कुछ अंकों में इधर कुछ अच्छी रचनाएं (मुख्यतः कविताएं) प्रकाशित हुई हैं जिनके स्तर को देखते हुए यह सोचना पड़ता है कि ये कवि बड़ी स्थापित पत्रिकाओं में अपनी रचनाएं क्यों नहीं भेजते. सम्भव है उन्होंने कोशिश की हो पर उन्हें निराश होना पड़ा हो.

प्रायपास, आउटपोस्ट्स और **एजेण्डा** कुछ ऐसी पत्रिकाएं है जिनका प्रकाशन पहले भले ही किसी भी अन्य उद्देश्य से आरम्भ हुआ हो, पर अब जिन्हें नये अंग्रेजी साहित्य की एक झलक पाने के लिए देखा जा सकता है.

प्रायपास मुख्यतः सचित्र कविता पत्रिका है. कविताओं के चयन में यह पत्रिका रूढ़िवादी है और इस प्रकार की कुछ कविताएं जो पिछले कुछ अंकों में प्रकाशित हुई हैं, निश्चय ही बहुत अच्छी हैं. कभी-कभी यह किसी एक विषय पर अच्छे विशेषांक भी निकालती है. उदाहरणतः कुछ वर्ष पूर्व इसका **ऑक्सफोर्ड की नयी कविता** विषयक एक पूरा अंक निकला था. पर यह कहना गलत होगा कि इसमें जिन कवियों की रचनाएं प्रकाशित होती हैं, वे उनकी श्रेष्ठ कृतियां होती हैं क्योंकि हमने इन कवियों की कुछ और भी अच्छी रचनाएं अन्य पत्रिकाओं में देखी हैं.

आउटपोस्ट्स भी कविता पत्रिका है. इसमें प्रकाशित कविताओं में कुछ यदि बिलकुल ही नये कवियों की होती हैं (जिन्हें यदि प्रकाशित न किया जाता तो अच्छा होता) तो दूसरी ओर कुछ ऐसी कविताएं भी देखने को मिल जाती हैं जिन्हें किसी भी श्रेष्ठ पत्रिका में स्थान मिल सकता था.

एजेण्डा का वैसे तो साधारणतः प्रत्येक अंक कविताओं से भरा रहता

है पर इस पत्र की नीति मुख्यतः कुछ उन विषयों के सम्बन्ध में रचनाएं (कभी-कभी पूरे अंक) प्रकाशित करने की है जो सम्पादक की दृष्टि में अभी तक अछूते रहे हैं या जिन पर अभी तक किसी अन्य पत्रिका का ध्यान नहीं गया है. यथा पिछले वर्षों में इसने **डेविड जोन्स, विलियम कार्लोस विलियम्स** और **लुई जुकोफ्स्की** के सम्बन्ध में अलग-अलग विशेषांक निकाले. यह नीति एक प्रकार से अच्छी कही जा सकती है पर इस प्रकार के प्रयासों में जिस श्रम एवं सम्पादकीय सजगता को अपेक्षा रहती है, उसका इसमें अभाव दिखता है.

कविता सम्बन्धी एक पत्रिका है पूअर, **ओल्ड, टायर्ड, हार्स** (Poor, Old, Tired, Horse). यह नाम कुछ विलक्षण जान पड़ेगा. पर इसमें प्रकाशित रचनाएं भी कुछ कम विलक्षण नहीं होती. यह पत्रिका तरह-तरह के **कांक्रीट** (Concrete) काव्य की समर्थक एवं उसे प्रोत्साहित करने वाली है. अभी कुछ समय पहले प्रकाशित इसके एक विशेषांक का नाम **एक शब्दीय कविताएं** (One Word Poems) था. उसमें प्रकाशित कविताओं में कुछ कवियों ने एक शब्द के ऊपर लम्बे-लम्बे शीर्षक लगाकर यह बतलाने का प्रयत्न किया था कि इससे कविता में एक विशेषता आ जाती है. **पूअर, ओल्ड, टायर्ड, हार्स** को गम्भीर पत्रिका मानना गलत होगा. इसके सम्पादकों का भी शायद ऐसा आग्रह नहीं रहा. उनका उद्देश्य पाठकों का केवल मनोरंजन करना मात्र जान पड़ता है, पर इस रूप में पत्रिका कब तक चल सकेगी, यह नहीं कहा जा सकता.

कविता सम्बन्धी एक और पत्रिका का उल्लेख किये बिना यह प्रसंग समाप्त करने की इच्छा नहीं होती. यह पत्रिका प्रारम्भ से ही बहुत उच्च स्तर की रही है, तथा जो रचनाएं इसके स्तर के अनुरूप नहीं रही हैं, उन्हें अस्वीकृत करने में इसे किसी भी प्रकार का संकोच नहीं रहा है. **इयान हेमिल्टन** के सम्पादकत्व में निकल रही इस पत्रिका—**दि रिव्यू**– का पिछला रेकार्ड समकालीन अंग्रेजी एवं अमेरिकी कविता की दृष्टि से महत्वपूर्ण रहा है. **रिव्यू** में उतनी अधिक मौलिक रचनाएं नहीं छप सकी हैं जितनी कि इसके सम्पादक छापना चाहते रहे हैं पर **सिल्विया प्लेथ** और **विलियम एम्पसन** सम्बन्धी इसके विशेषांक तथा पालिश कवि विगनो हर्बर्ट सम्बन्धी अंक--इन तीनों में ही उक्त कवियों का त्रिविध दृष्टिकोणों से जो मूल्यांकन किया गया है वैसा अन्यत्र प्राप्य नहीं है.

अन्त में दो वार्षिक पत्रिकाओं का उल्लेख कर हम यह लेख समाप्त करना चाहेंगे. इन दो पत्रिकाओं का उल्लेख इसलिए भी आवश्यक हो जाता है कि हिन्दी में अभी इस प्रकार के प्रकाशनों की कमी है.

पहली पत्रिका है **इण्टरनेशनल लिटरेरी एन्युअल**, जिसके प्रत्येक अंक में पिछले एक वर्ष की साहित्यिक गतिविधि या सूचनाओं, घटनाओं का अच्छा संकलन किया जाता है. इसके एक अंक में प्रमुख साहित्यिक पुरस्कार एवं विविध देशों में प्रकाशित महत्वपूर्ण उपन्यासों का विवरण दिया गया था. वैज्ञानिक उपन्यास एवं काव्य पर भी इसमें पठनीय लेख है. पर सबसे अधिक रुचिकर हमें वे लेख लगे जिनमें पिछले वर्ष के पोलिश, युगोस्लावी एवं भारतीय लेखन का सर्वेक्षण किया गया है. इसके अतिरिक्त साहित्यिक विषयों पर कुछ और भी महत्वपूर्ण लेख हैं. इसका प्रकाशन लन्दन के प्रसिद्ध प्रकाशक जान काल्डर द्वारा होता है.

लन्दन के ही एक अन्य प्रकाशक पीटर ओवेन **स्प्रिंग टाइम** नामक एक वार्षिक पत्रिका निकालते हैं जिसका प्रत्येक अंक जिल्द बंधा हुआ तथा प्रकाशन वार्षिक होने पर भी थोड़ा-बहुत अनियमित रहता है. **स्प्रिंग टाइम** का उपशीर्षक है **गद्य एवं काव्य का एक संकलन**. इसे हमने अन्य संकलनों की अपेक्षा इसलिए अधिक महत्वपूर्ण माना है कि इसमें इंग्लैंड, अमेरिका, फ्रान्स, भारत और कुछ अन्य देशों के कवियों एवं लेखकों की रचनाएं संकलित की जाती हैं. अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव बढ़ाने तथा एक दूसरे के साहित्य से परिचित होने के लिए इस प्रकार के संकलनों के महत्व से इनकार नहीं किया जा सकता.

इस लेख में ब्रिटेन में प्रकाशित होने वाली कुछ महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय साहित्यिक पत्रिकाओं की ही चर्चा हो सकी है. हमारा उद्देश्य ब्रिटेन की सभी साहित्यिक पत्रिकाओं की तालिका प्रस्तुत करने का नहीं रहा है. हमने यहां केवल उन पत्रिकाओं की चर्चा की है जो हमें देखने को मिली हैं तथा जिन्हें हमने किसी-न-किसी कारण से उल्लेखनीय माना है. हमने उन पत्रिकाओं की भी जान-बूझकर चर्चा नहीं की है जिनका प्रकाशन अब बन्द हो चुका है. यदि इस लेख में कुछ ऐसी पत्रिकाओं की चर्चा नहीं हो सकी है जो अभी प्रकाशित हो रही हैं और जो साहित्यिक दृष्टि से उल्लेखनीय हैं तो इसे उनके सम्बन्ध में हमारा अज्ञान ही समझा जाना चाहिए और हम पाठकों से आशा करते हैं कि वे हमें उनकी सूचना देंगे.

इस लेख में जिन पत्रिकाओं का उल्लेख किया गया है, वे सभी तथा ब्रिटेन में प्रकाशित होने वाली सभी प्रकार की अन्य साहित्यिक पत्रिकाएं **युनीवर्सिटी कालेज** (लन्दन विश्वविद्यालय) के पुस्तकालय में उपलब्ध हैं. वस्तुतः इस पुस्तकालय में ब्रिटेन में प्रकाशित होने वाली सभी प्रकार की साहित्यिक पत्रिकाओं का सबसे बड़ा संग्रह है तथा पुस्तकालय का प्रयत्न रहता है कि ब्रिटेन में प्रकाशित होने वाली प्रत्येक साहित्यिक पत्रिका वहां उपलब्ध हो.

पुस्तकालय में संग्रहीत सभी पत्रिकाओं का एक स्वतंत्र सूचीपत्र भी पुस्तकालय द्वारा प्रकाशित किया गया है. इसमें प्रत्येक पत्रिका के संबंध में पूरी जानकारी (यथा प्रकाशन काल, प्रकाशन स्थान, सम्पादक, मुद्रक, प्राप्ति स्थान, मूल्य आदि) दी हुई है. इसी कारण इस लेख में हमने पत्रिकाओं के नाम के साथ उनके प्रकाशन से संबंधित सूचनाएं नहीं दी हैं. जिन लोगों को किसी पत्रिका के संबंध में कोई विशेष जानकारी प्राप्त करने की इच्छा हो, वे पुस्तकालय को पत्र लिखकर पूछ सकते हैं पता है—**पुस्तकालयाध्यक्ष**, **युनीवर्सिटी कालेज, लंदन विश्वविद्यालय, गोबर स्ट्रीट, लंदन.**

ब्रिटेन से प्रकाशित होने वाली और लेखकीय दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं के संबंध में **नवीनतम** जानकारी प्राप्त करने के लिए **राइटर्स एण्ड आर्टिस्ट्स ईयर बुक** (एडम एण्ड चार्ल्स ब्लैक/लन्दन) एक बहुत ही उपयोगी प्रकाशन है. पिछले लगभग ८० वर्षों से नियमित रुप से प्रकाशित होने वाली इस वार्षिकी के प्रत्येक अंक में प्रत्येक विषय की ऐसी सभी पत्र-पत्रिकाओं के विषय में आवश्यक सूचनाएं दी रहती हैं जो लेखकों के लिए उपयोगी हैं (यथा कब से प्रकाशित हो रही है, प्रकाशन काल, पूरा पता, मूल्य, रचनाओं के संबंध में सम्पादकीय नीति, सम्पादक, प्रकाशक, पारिश्रमिक की दर, किस विषय की और कैसी सामग्री प्रकाशित की जाती है, रचनाएं कितनी लम्बी होनी चाहिए, आदि). इसके नवीनतम अंक का मूल्य लगभग ५०) रु० है.

अमेरिकी पत्र-पत्रिकाओं के लिए इसी प्रकार का एक उपयोगी प्रकाशन **राइटर्स मार्केट** (राइटर्स डायजेस्ट बुक्स / ९९३३, एलायंस रोड,

सिनसिनाटी, ओहिओ, ४५२४२) है. यह वार्षिकी लगभग ५० वर्ष से नियमित रुप से प्रकाशित हो रही है. **राइटर्स एण्ड आर्टिस्ट्स ईयर बुक** के समान इसमें भी पत्र-पत्रिताओं के संबंध में लेखकों के लिए उपयोगी जानकारी दी रहती है

इन दोनों प्रकाशनों में पत्र-पत्रिकाओं के संबंध में आवश्यक जानकारी के अतिरिक्त लेखकों के लिए उपयोगी अन्य आवश्यक सूचनाएं भी रहती हैं. अन्य देशों की चुनी हुई महत्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाएं, सिण्डीकेट, समाचार-एजेन्सियां, बुक क्लब, फ्री लांस लेखकों के लिए उपयोगी सूचनाएं, कापीराइट संबंधी नियम, मानहानि के दायित्व संबंधी जानकारी, प्रकाशकों से अनुबन्ध की शर्तें, लेखकों के लिए उपयोगी पुस्तकें, लिटरेरी एजेन्सियों के पते तथा उनकी सेवाएं, प्रेस कटिंग एजेन्सियों के पते, लेखकों का दायित्व एवं उनके अधिकार, देश-विदेश के साहित्यिक पुरस्कार, लेखकों से संबंधित संस्थाएं, आदि सभी प्रकार की जानकारी इन प्रकाशनों से मिल जाती है.

○ ○

परिशिष्ट

हिन्दी शोधकार्य : उपलब्ध सामग्री में एक स्थान पर सी. पी. स्नो के प्रसिद्ध विवाद **दो संस्कृतियां** का उल्लेख किया गया है. लेख छप चुकने के बाद पता चला कि उसमें **दो संस्कृतियां** के प्रकाशन संबंधी विवरण नहीं दिया गया है. वह इस प्रकार है :

1 **SNOW, Charles Percy** : The two cultures and the scientific revolution. Cambridge University Press, 1959

2. **LEAVIS, Frank Raymond** : Two cultures ? The significance of C. P. Snow; with an essay on Sir Charles Snow's Rede Lecture by Michael Yudkin. London, Chatto & Windus, 1962

3. **SNOW, Charles Percy** : Two cultures **and** A second look. Cambridge University Press, 1964